हिन्दुस्तान की समस्यायें

पंडित जवाहरलाल नेहरू

१९५०

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

पांचवीं बार : १९५०
मूल्य
तीन रुपए

मुद्रक—सेवा प्रेस
९८, हिवेट रोड
इलाहाबाद

दो शब्द

इस किताब में 'हिन्दुस्तान की समस्याओं' पर मेरे पुराने और कुछ हाल के नये लेख जमा किये गए हैं। ये लेख मैंने पिछले तीन वर्षों में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी में लिखे थे। इन तीन वर्षों में जमाना बदल गया और इस समय हमारे सामने नये-नये पेचीदा सवाल हैं। इसलिए मैं नहीं कह सकता कि इसके पुराने लेख आज की हालत में कहांतक मौजूं होंगे। पर आजकल के प्रश्नों की जड़ हमारे पिछले कामों में होती है। इसलिए मेरा खयाल है कि शायद इसमें के पुराने लेख भी हमारी नई समस्या पर रोशनी डालें।

दुनिया का या हिन्दुस्तान का भविष्य क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। हर तरफ लड़ाई, क्रांति और हलचल हो रही है और सिर्फ एक बात सही मालूम होती है कि पुरानी दुनिया का अंत हम देख रहे हैं। नई दुनिया अभी पैदा नहीं हुई और हम बीच में टंगे हैं और बीच की सब मुसीबतें झेलते हैं। यह नई दुनिया अपने आप से नहीं बन जावेगी। वह करोड़ों आदमियों के परिश्रम, बलिदान और कोशिश से ही बन सकती है। लेकिन मेहनत तो तब ही फल देती है जब सामने कोई ध्येय हो और जिस रास्ते पर चलना है, वह निश्चय हो। वगैर इसके जनता भूली-भटकी फिरती है।

इसलिए कांग्रेस की ओर से ब्रितानिया की हुकूमत से सवाल किये गये कि वह किस लिए जर्मनी से लड़ाई लड़ रही है; उसका ध्येय क्या है, वह हिन्दुस्तान की आजादी को तसलीम करती है कि नहीं? इन प्रश्नों का

जवाब उन्होंने देने से इन्कार किया, या गोलमाल दिया। इसी से जाहिर होता है कि उनकी पुरानी साम्राज्यवादी नीति जारी है और वे आजादी के लिए नहीं लड़ते। उनकी लड़ाई अपने साम्राज्य को कायम करने के लिए है। इसलिए हमने असहयोग किया।

इस तरह के सवाल हमको अपने से भी करने हैं। हमारा ध्येय क्या है। स्वराज है, या आजादी है, यह तो ठीक है। लेकिन कैसा स्वराज? अब गोल शब्दों का समय जाता रहा। हम कैसा राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं? हमको ये सब बातें अपने दिमाग में साफ करनी हैं। जब विचार साफ होते हैं तब ही हमारा कार्य ठीक चल सकता है।

आनंद भवन, इलाहाबाद
१७ नवंबर १९३९

—जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

हिन्दुस्तान की समस्यायें

: १ :

'भारतमाता की जय'

सभा और जुलूसों के मारे हम दिन भर वेहद परेशान रहे। अम्बाला से चलकर हम करनाल पहुँचे। वहां से पानीपत, फिर सोनीपत, और अन्त में रोहतक। खूब जोश और भीड़-भाड़ रही और आखिरकार पंजाब का दौरा खत्म हुआ। एक शान्ति की भावना मेरे भीतर उठी। कितना बोझ सिर पर था और कितनी थकान थी! अब तो ऐसे लम्बे आराम की जरूरत थी जिसमें जल्दी ही कोई विघ्न-बाधा आकर न पड़े।

रात हो गई थी। हम तेजी से रोहतक-दिल्ली रोड की ओर बढ़े; क्योंकि उस रात को हमें दिल्ली पहुँच कर गाड़ी पकड़नी थी। नींद मुझे बुरी तरह घेर रही थी। यकायक हमें रुकना पड़ा; क्योंकि बीच सड़क पर आदमी और औरतों की भीड़ बैठी थी। कुछेक के हाथों में मशालें थीं। वे आगे बढ़कर हमारे पास आये और जब उन्हें संतोष हो गया कि हम कौन हैं, तब उन्होंने बताया कि दोपहर से वे वहाँ बैठे-बैठे इंतजार कर रहे हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट जाट थे। उनमें ज्यादातर छोटे-मोटे जमींदार थे। उनसे बिना थोड़ी-बहुत बातचीत किये आगे बढ़ना मुमकिन नहीं था। हम बाहर आये और रात के धुंधलेपन में हजारों या इससे भी ज्यादा जाट मर्दों और औरतों के बीच बैठ गये।

उनमें से एक चिल्लाया, 'कौमी नारा!' और हजारों गलों ने मिलकर जोश के साथ तीन बार चिल्लाकर कहा—'वन्देमातरम्!' और फिर

1r.८३

उन्होंने 'भारतमाता की जय' के नारे लगाये।

"यह सब 'वन्देमातरम्' और 'भारतमाता की जय' किस लिए है?" मैंने पूछा।

कोई उत्तर नहीं। पहले उन्होंने मुझे घूरकर देखा और फिर एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। दिखाई पड़ता था कि वे मेरे सवाल करने से कुछ परेशान हो उठे हैं। मैंने सवाल दोहराया—"बोलिए, ये नारे लगाने से आपका क्या मतलब है?" फिर भी कोई जवाब नहीं मिला। उस जगह के इंचार्ज कांग्रेस-कार्यकर्त्ता कुछ खिन्न से हो रहे थे। उन्होंने हिम्मत करके सब बातें बतानी चाहीं; लेकिन मैंने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया।

"यह 'माता' कौन है, जिसको आपने प्रणाम किया है और किसकी जय के नारे लगाये हैं?" मैंने फिर सवाल किया। वे फिर चुप और परेशान-से हो रहे। ऐसे अजीब सवाल उनसे कभी नहीं किये गये थे। सहज भाव से उन्होंने सब बातों को मान लिया था। जब उनसे नारे लगाने के लिए कहा जाता था, वे नारे लगा देते थे। उन सब बातों के समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने नारे लगाने के लिए कहा तो वे उज्र कैसे कर सकते थे। वे तो खूब जोर से पूरी ताकत लगाकर चिल्ला देते थे। बस, नारा अच्छा होना चाहिए। इससे उन्हें खुशी होती थी और शायद इससे उनके प्रतिद्वन्द्वियों को कुछ डर भी होता था।

अब भी मैंने सवाल करना बन्द नहीं किया। बेहद हिम्मत करके एक आदमी ने कहा, कि 'माता' का मतलब 'धरती' से है। उस बेचारे किसान का दिमाग धरती की ओर ही गया, जो उसकी सच्ची मां है; भला करने और चाहने वाली है।

"कौन-सी 'धरती' मैंने फिर पूछा, "क्या आपके गांव की 'धरती' या पंजाब की, या तमाम दुनिया की?" इस पेचीदा सवाल से वे और परेशान हुए। तब बहुत से लोगों ने चिल्लाकर कहा कि इस सबका

मतलब आप ही समझाइए। हम कुछ भी नहीं जानते और सारी बातें समझना चाहते हैं।

मैंने उन्हें बताया कि भारत क्या है। किस तरह वह उत्तर में काश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला हुआ है। उनमें पंजाब, बंगाल, बम्बई, मद्रास सब शामिल हैं। इस महाद्वीप में उनके जैसे करोड़ों किसान हैं जिनकी उन जैसी ही समस्यायें हैं, उन्हींकी-सी मुश्किलें और बोझ, वैसी कुचलने वाली गरीबी और आफतें हैं। यही महादेश हिन्दुस्तान उन सबके लिए 'भारतमाता' है। जो उसमें रहते हैं और जो उसके बच्चे हैं। भारतमाता कोई सुन्दर बेबस असहाय नारी नहीं है, जिसके धरती तक लटकने वाले लम्बे-लम्बे बाल हों, जैसा अक्सर कल्पित तस्वीरों में दिखलाया जाता है।

'भारतमाता की जय! यह जय बोलकर हमने किसकी जय बोली? उस कल्पित स्त्री की नहीं जो कहीं भी नहीं है। तब क्या यह जय हिन्दुस्तान के पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों, पेड़ों, पत्थरों की बोली जाती है?

"नहीं," उन्होंने जवाब दिया। लेकिन कोई ठीक उत्तर वे मुझे न दे सके।

"निश्चय ही हम जय उन लोगों की बोलते हैं जो भारत में रहते हैं—उन करोड़ों आदमियों की जो उसके गाँवों और नगरों में बसते हैं।" मैंने उन्हें बताया। इस जवाब से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने अनुभव किया कि जवाब ठीक भी है।

"ये आदमी कौन हैं? निश्चय ही आप और आपके भाई। इसलिए जब आप **'भारतमाता की जय'** बोलते हैं, तो वह अपने और हिन्दुस्तान भर के अपने भाई-बहनों की ही जय बोलते हैं। याद रखिए 'भारतमाता' आप ही हैं और यह आप अपनी ही जय बोलते हैं।"

ध्यान से उन्होंने सुना। प्रकाश की उज्ज्वल रेखा उनके भोले-भाले चेहरों पर उदय होती हुई दिखाई दी। यह ज्ञान उनके लिए एक विचित्र था कि वह नारा, जिसे वे इतने दिनों से लगा रहे हैं, उन्हींके लिए था।

हाँ, रोहतक जिले के गाँव के उन्हीं बेचारे जाट किसानों के लिए। यह उन्हीं की जय थी। तब आइए, तब एक बार फिर मिलकर पुकारें— "भारतमाता की जय!"

तब हम अन्धकार में दिल्ली की ओर बढ़े। रेल मिली और उसके बाद खूब आराम भी।

२६ सितम्बर, १९३६।

: २ :

हिन्दुस्तान की समस्याएं[१]

पहला सवाल है--

"क्या आप बता सकेंगे कि 'हिन्दुस्तान के लिए मुकम्मिल आजादी' से क्या मतलब है ?"

कांग्रेस विधान की पहली धारा में यह वाक्य आया है । आपका शायद उसीसे मतलब है। मैं जानता हूँ कि वहां उसका मतलब सिर्फ राजनीतिक पहलू से है, आर्थिक से नहीं। लेकिन सामूहिक रूप में तो अब कांग्रेस ने आर्थिक दृष्टि को भी मद्दे-नजर रखना और आर्थिक नीति को तरक्की देना शुरू कर दिया है और हममें से कुछ, मैं भी, राजनीतिक स्वतन्त्रता को और दृष्टियों की बनिस्वत कहीं ज्यादा आर्थिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से सोचने लगे हैं। साफ तौर से आर्थिक स्वतन्त्रता में राजनीतिक स्वतन्त्रता भी शामिल है। लेकिन अगर इस जुमले का अर्थ बिलकुल राजनीतिक मानी में लगाया जाय; जैसे कि यह जुमला कांग्रेस-विधान में इस्तैमाल किया गया है, तो उसका अर्थ होता है—राष्ट्रीय स्वतंत्रता। स्वतन्त्रता सिर्फ घरेलू ही नहीं, बल्कि विदेशी, आर्थिक और फौजी वगैरा भी, यानी फौज पर और विदेशी मामलों पर भी काबू होना। दूसरे शब्दों में, उसमें वे सब चीजें शामिल हैं जो अक्सर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में आती हैं। इसका जरूरी तौर पर यह मतलब नहीं है कि हम इस बात पर जोर देते हैं कि हिन्दुस्तान को अलग कर लिया जाय या हिन्दुस्तान को उन सम्बन्धों से अलहदा कर लिया जाय जो इंग्लैंड या दूसरे मुल्कों के साथ

---

१ इंग्लैंड के 'कंसीलिएशन ग्रुप' के अन्तर्गत ४ फरवरी १६३६ को लन्दन में हुई मीटिंग के अध्यक्ष मि० कार्लहीथ द्वारा पूछे गए सवालों के जवाब ।

कायम हों, लेकिन इसका मतलब है —'आजादी'। यह शब्द खास तौर से इसी बात पर जोर देने के लिए इस्तैमाल किया गया है —कि हम ब्रिटेन से साम्राज्यवादी सम्बन्ध तोड़ देना चाहते हैं। अगर साम्राज्यवाद इंग्लैंड में रहता है तो हमें जरूर ही उससे अलग हो जाना चाहिए, क्योंकि जब तक इंग्लैंड में साम्राज्यवाद है, तब तक इंग्लैंड और हिन्दुस्तान में अगर किसी सम्बन्ध की संभावना हो सकती हो तो वह किसी-न-किसी रूप में सिर्फ साम्राज्यवादी शासन की ही होगी। वह सम्बन्ध चाहे दिनोंदिन हवाई होता जाय, चाहे वह जितना स्पष्ट है उससे और कम स्पष्ट हो जाय, चाहे वह राजनीतिक पहलू पर भी स्पष्ट न हो और फिर भी चाहे उसका आर्थिक पहलू बहुत मजबूत हो। इसलिए साम्राज्यवादी ब्रिटेन की परिभाषा में आजादी का मतलब हिन्दुस्तान का इंग्लैंड से अलहदा हो जाना है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो सोच सकता हूँ और इस विचार का स्वागत भी करूंगा कि इंग्लैंड और हिन्दुस्तान के बीच सम्बन्ध रहें, लेकिन उसकी बुनियाद साम्राज्य न होकर और कुछ हो।

दूसरा सवाल है—

"क्या आप बीच में एक परिवर्त्तन-काल की जरूरत देखते हैं? यदि हां, तो क्या भारतीय शासन-विधान से किसी तरह वह जरूरत पूरी होती है? अगर नहीं, तो दूसरे उपाय क्या करने चाहिएं?"

जब कभी कोई परिवर्त्तन होता है, तो लाजिमी तौर पर बीच की चीजें बदल जाती हैं; लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि सरकार का ढांचा कुछ-कुछ स्थिर हो जाता है और जल्दी-जल्दी नहीं बदलता। आर्थिक और दूसरे परिवर्त्तन तो होते ही रहते हैं, क्योंकि वे कानूनों और नियमों के लिये रुकते नहीं हैं। वे बदलते रहते हैं, लेकिन सरकार का ढांचा नहीं बदलता। नतीजा यह होता है कि कभी-कभी खास हालतों में ऐसी हलचलें मच जाती हैं, जो सरकार के ढांचे को जबरदस्ती बदल देती हैं। उन्हें क्रांति कहते हैं। लेकिन उस हालत में भी परिवर्त्तन-काल

होता है। मैं समझता हूँ कि इस सवाल से आपका मतलब बीच के काल की बनिस्बत सरकार के ढाँचे से अधिक है। इसलिए उसका जवाब देना मुश्किल है; क्योंकि वह बहुत-सी बातों पर मुनहसिर होता है। वह कुछ तो हम पर मुनहसिर है और ज्यादातर ब्रिटिश-सरकार पर तथा बहुत-सी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बातों पर। यह स्पष्ट है कि अगर ब्रिटेन और हिन्दुस्तानियों के बीच आपसी समझौता हो तो लाजिमी तौर पर उस समझौते के पूरे होने की क्रिया में धीरे-धीरे बहुत-से परिवर्त्तन के स्थान आयेंगे। चाहे वक्त उसमें लगे, लेकिन उस क्रिया में कुछ घटनायें जरूर ही होंगी। यकायक ही कोई एकदम बड़ा परिवर्त्तन नहीं कर सकता। दूसरी तरफ, अगर आपसी समझौते से परिवर्त्तन की सम्भावना नहीं होती तो हलचलें मचने का मौका रहता है और यह कहना मुश्किल है कि हल-चल का नतीजा क्या होगा। यह तो हलचलों के परिणाम और आर्थिक कारणों पर, जो हलचल पैदा करते हैं, निर्भर होता है। इससे कुछ भी हो सकता है; क्योंकि मैं देखता हूँ कि हिन्दुस्तान की असली समस्या अपने भिन्न-भिन्न पहलुओं में आर्थिक है। खास समस्या तो धरती की समस्या है। बेहद बेकारी फैली है; और धरती पर भार जरूरत से कहीं ज्यादा है। उसीसे सम्बन्धित औद्योगिक समस्या है; क्योंकि अगर कोई धरती की समस्या पर विचार करना चाहता है तो उसे औद्योगिक सवाल पर जरूर विचार करना होगा। और भी बहुत-सी समस्यायें हैं, जैसे मध्यम वर्ग वालों की बेकारी। उन सबको एक साथ हाथ में लेना होगा, जिससे वे एक-दूसरे से मेल खा जायं और अलग-अलग न रहें।

इन सब समस्याओं को एक साथ सुलझाने के बहुत से कारण हैं; लेकिन असली कारण यह है कि माली हालत के ठीक न होने से जनता की हालत दिनोंदिन गिरती जा रही है। राजनीतिक ढांचे को ऊपर से बदल देने से ही वह नहीं सुलझेगी। राजनीतिक आकार तो ऐसा भी हो सकता है जो उन समस्याओं को सुलझाने में सहायता दे। राजनीतिक आकार की कसौटी यह है कि यह इन समस्याओं को सुलझाने और

इनका हल निकालने में आसानी पैदा करती हैं। या नहीं?

इसलिए बीच के काल के बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसा एक बीच का जमाना जरूर होता है और इस वक्त हम उसी जमाने में होकर गुजर रहे हैं। लेकिन यह तो भविष्य ही बतला सकता है कि तरक्की व्यवस्था के जरिये होगी, या आपस के समझौते से; धीरे-धीरे या तेजी से।

हिन्दुस्तान में कांग्रेस और कुछ उससे बाहर के दलों ने सलाह दी है कि इस समस्या के राजनीतिक पहलू के सुलझाने का ठीक और प्रजातंत्रीय तरीका यह है कि एक राष्ट्रीय पञ्चायत (कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली) हो। यानी, बुनियादी तरीके से हिन्दुस्तानी ही हिन्दुस्तान का विधान बनावें। वे इस बात को नहीं मानते कि हिन्दुस्तानी विदेशी हुकूमत के, जहाँतक विधान बनाने का सम्बन्ध है सिर्फ मुंह देखनेवाले एजेण्ट भर रहें। हिन्दुस्तानियों की इच्छा को मूर्त्तरूप देने का तरीका सिर्फ यह है कि एक राष्ट्रीय पञ्चायत बनाई जाय। आज यह बात मुमकिन नहीं है, सिर्फ इसलिए कि यह तब तक व्यवहार में नहीं आ सकती जबतक कि ब्रिटिश-सरकार हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत का खात्मा नहीं कर देती और हिन्दुस्तानियों को ही अपना विधान बनाने के लिए आजादी नहीं दे देती। ब्रिटिश-सरकार ऐसा करने का इरादा करे या न करे, घटना-चक्र से यह बात हो जायगी; क्योंकि राष्ट्रीय पञ्चायत के बनने के बाद ही हिन्दुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत का खात्मा हो जायगा। पञ्चायत से मतलब तथाकथित नेताओं के दल से नहीं है, जो इकट्ठे होकर विधान बनायें। इस पञ्चायत के पीछे विचार यह है कि बालिग-मताधिकार के जरिये उसका चुनाव हो। उसमें आदमी भी हों, और औरतें भी हों, जो वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व हो सके और जनता की आर्थिक जरूरतें पूरी कराई जा सकें। मौजूदा कठिनाई तो यह है कि उच्च मध्य-वर्ग के आदमी बैठ जाते हैं और आर्थिक पहलुओं से विचार करने के बजाय नये विधान के पर्दों के सवाल पर विचार करते हैं कि उन पर

कौन-कौन नियत किये जायं। उन्हें उम्मीद रहती है कि नये विधान में पदों से खूब फायदा होगा, सिफारिशें चलेंगी, वगैरा-वगैरा। उस नाजायज फायदे में हिस्सा बँटाने की भी चाह उनमें होती है। कुछ-कुछ इसको लेकर साम्प्रदायिक समस्या उठ खड़ी होती है। अगर राष्ट्रीय पंचायत के चुनाव में जनता का हाथ रहे तो स्पष्ट रूप से जनता पद या नौकरियाँ पाने में दिलचस्पी नहीं लेगी। उसकी दिलचस्पी अपनी ही आर्थिक कठिनाइयों में है। इसलिए ध्यान फौरन ही सामाजिक और आर्थिक सवालों पर दिया जायगा। और वह समस्यायें—जो बड़ी दिखाई देती हैं लेकिन असल में अहमियत नहीं रखतीं, जैसी साम्प्रदायिक समस्या आदि—हटकर पीछे पड़ जायंगी।

दूसरा सवाल है —

"क्या भारतीय शासन-विधान से किसी तरह वह जरूरत पूरी होती है!"

मैंने अभी कहा है कि विधान की कसौटी यह है कि वह आर्थिक समस्याओं के, जो हमारे सामने हैं और जो असली समस्यायें हैं; सुलझाने में मदद देता है या नहीं? भारतीय-शासन विधान की, जैसा कि शायद आप जानते हैं, लगभग हर दृष्टि से हिन्दुस्तान के हरेक नरम और गरम दल ने आलोचना की है। हिन्दुस्तान में किसी ने भी उसे अच्छा कहा है, इसमें मुझे सन्देह है। अगर कुछ आदमी ऐसे हैं जो उसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार हैं, तो हिन्दुस्तान में या तो उनके स्थापित स्वार्थ हैं या वे लोग हैं जो सिर्फ आदत की ही वजह से ब्रिटिश-सरकार के सब कामों को बर्दाश्त कर लेते हैं। इन आदमियों को छोड़कर हिन्दुस्तान के करीब-करीब हरेक राजनीतिक दल ने इस भारतीय-शासन-विधान का घोर विरोध किया है। सब उसकी मुखालिफत करते हैं और उन्होंने हर तरह से उसकी आलोचना की है। सबका विचार है कि हमारी मदद करने के बजाय वह वास्तव में हमें हटाता है, हमारे हाथ-पैरों को इतनी मजबूती से जकड़ता है कि हम आगे नहीं बढ़ सकते। ब्रिटेन या हिन्दुस्तान के इन तमाम स्थापित स्वार्थों ने इस विधान में ऐसी स्थायी जगह पा ली है कि क्रांति से कम कोई

भी खास सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक परिवर्त्तन होना करीब-करीब नामुमकिन है। एक तरफ तो हम भारतीय-शासन-विधान के अन्तर्गत कोई भी खास आर्थिक परिवर्त्तन करने की कोशिश नहीं कर सकते, दूसरी तरफ विधान को भी हम नहीं बदल सकते। यह आपको नहीं सोचना चाहिए कि भारतीय-शासन विधान में हमें प्रजातन्त्रीय यंत्र मिल रहा है, जिसको सुधार-कर फायदेमन्द बनाया जा सकता है। ऐसा नहीं है। स्वाधीन उपनिवेशों—कनाडा और आस्ट्रेलिया —में शुरू में स्वराज के लिए जो बातें मालूम की गईं उन्हें यहाँ लागू न कीजिए। वहाँ की समस्यायें बड़ी सीधी सादी थीं। वहाँ मामूली जन-समुदाय थे, जिनके साथ व्यवहार करना पड़ा और चाहे जो कार्रवाइयाँ की गईं, सुधार के लिए वहाँ गुंजाइश थी और सुधार हुए। वह बात हिन्दुस्तान पर किसी तरह भी लागू नहीं होती है। आज हिन्दुस्तान के सामने मुकाबिला करने के लिए मामूली समस्या नहीं है। उसे बहुत ही जटिल आर्थिक समस्या का मुकाबला करना है और उस पर निर्णय करने में भी देर नहीं की जा सकती। दूसरे भारतीय शासन-विधान ऐसा है कि उसमें सुधार नहीं किया जा सकता। अगर ब्रिटिश-सरकार अपने आप उसे बदलती है तब तो समय समय पर सुधार हो सकते हैं; लेकिन जैसी कि वह सरकार है, चाहे हिन्दुस्तान के निन्यानवे या सौ फी सदी आदमी उसे बदलवाना चाहें तब भी वे उसे नहीं बदलवा सकते। उसमें बदलने की गुंजाइश ही नहीं है। वह तो हिन्दुस्तानियों पर स्थापित स्वार्थों की स्थायी साँकल जकड़ना है। हिन्दुस्तानियों के पास तो बस यही उपाय है कि या तो वे उसे मान लें, और अगर उसे बदलना चाहते हैं, तो किसी-न-किसी रूप में उसके खिलाफ विद्रोह करें। इसलिए भारतीय शासन-विधान किसी भी तरह से बीच के परिवर्त्तन-काल की जरूरत को पूरा नहीं करता। इस विधान के अनुसार एक बड़ा निर्वाचक-समूह बना है। वह अच्छा है; लेकिन सारे विधान में बस एक यही अच्छी चीज है।

तीसरा सवाल है —

"हिन्दुस्तान की समस्या का दुनिया की समस्याओं से क्या सम्बन्ध

है ? क्या इस सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ कुछ मदद दे सकता है ?"

मैं समझता हूँ कि करीब-करीब सभी बड़ी समस्यायें जो दुनिया में —यूरोप या हिन्दुस्तान या चीन या अमरीका में—हमारे सामने हैं, वे आपस में इतनी मिली हुई हैं कि सबको छोड़कर एक को समझना या उसे सुलझाना असल में बड़ा मुश्किल है। आज दुनिया के जुदे-जुदे हिस्से आपस में बहुत सम्बिन्धित होते जा रहे हैं और दुनिया के एक हिस्से की घटनायें फौरन ही दूसरे हिस्से पर अपना असर डालती हैं। अगर बड़ी घटना—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध—होती है तो स्पष्ट रूप में तमाम दुनिया को परेशानी होती है। अगर कोई आर्थिक हलचल होती है—जैसी कि पिछले कुछ बरसों में हुई—तो उससे दुनियाभर के ऊपर असर पड़ता है। ये बड़ी लहरें और आन्दोलन तमाम दुनिया पर असर डालते हैं और स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तान की समस्या दूसरी समस्याओं से बहुत हिली-मिली हैं। कोई बड़ी चीज हिन्दुस्तान में होती है तो वह जरूर ही तमाम ब्रिटिश-राष्ट्र समूह पर यानी ब्रिटिश साम्राज्य-वाद पर अपना असर डालती है। वह दुनिया के लिए एक महत्त्वपूर्ण चीज होती है; क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद आज दुनिया की राज-नीति में एक अहम चीज है। जहांतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है, यह सभी जानते हैं कि उसने ब्रिटेन की नीति पर पिछले सौ बरसों में सबसे ज्यादा असर डाला है। नैपोलियन के जमाने में हिन्दुस्तान बड़ा दिखाई देता था, हालांकि अगर नैपोलियन की लड़ाइयों का हाल आप पढ़ें तो देखेंगे कि हिन्दुस्तान का नाम कहीं-कहीं ही आया है। लेकिन तह में वह हर वक्त मौजूद था। चाहे क्रीमियन-युद्ध हो या मिस्र पर कब्जा; लेकिन हिन्दु-स्तान का और उसके रास्तों का सवाल हमेशा उसकी तह में बना ही रहा। हिन्दुस्तान के रास्तों का सवाल ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने हमेशा रहा है। शायद आप में से कुछ को याद हो कि महायुद्ध के बाद भी एक विचार था, जिसको मि० विन्स्टन चर्चिल ने और ब्रिटिश जनता के कुछ खास नेताओं ने घोषित किया था—कि एक बड़ा मध्य-

पूर्वीय राज्य कायम किया जाय जो हिन्दुस्तान के किनारों से लेकर कुस्तुनतुनिया तक फैला हो। लेकिन यह विचार पूरा नहीं हुआ। अब यह बात कुछ अजीब-सी लगती है; लेकिन उस वक्त, लड़ाई के बाद, इतनी जगह अंग्रेजों के कब्जे में थी। ईरान, मैसोपोटामिया, फिलस्तीन, अरब के कुछ हिस्से, और कुस्तुनतुनिया, ये सब अंग्रेजों के कब्जे में थे। इसलिए यह विचार उस समय उतना खयाली नहीं था जितना कि अब लगता है। लेकिन बहुत सी बातें हुईं जिनकी वजह से यह कोई शक्ल अख्तियार नहीं कर सका। रूस की सरकार थी, टर्की और ईरान के अपने-अपने झगड़े थे। ऐसे ही और बातें थीं! सारा मामला तरह-तरह के झगड़ों से गड़बड़ हो रहा था। ऐसा होते हुए भी, अंग्रेजी सरकार की मंशा थी कि वह हिन्दुस्तान के खुश्की के रास्ते पर अपना कब्जा कर ले; क्योंकि हवाई जहाजों और मोटरों की तरक्की से खुश्की के रास्तों की अहमियत बढ़ती जाती है। मोसल के सवाल ने टर्की और इंग्लैंड के बीच करीब-करीब लड़ाई पैदा कर दी—मुख्यतः इसलिए कि हिन्दुस्तान के रास्ते पर मोसल का कब्जा है।

इसलिए बहुत-से दृष्टिकोणों से हिन्दुस्तान का सवाल दुनिया भर की समस्याओं पर अपना बहुत असर डालता है। जो कुछ हिन्दुस्तान में होता है, उसका लाजिमी असर दूसरे मुल्कों पर पड़ता है।

इस सम्बन्ध में शायद राष्ट्र-संघ कुछ मदद कर सकता है, अगर हिन्दुस्तान का दृष्टिकोण उसके सामने ठीक-ठीक रखा जाय और उसपर जोर दिया जाय। लेकिन अबतक तो हालत ऐसी रही है कि राष्ट्र-संघ से हिन्दुस्तान का कोई वास्ता नहीं रहा है; सिर्फ उसका संघ में प्रतिनिधित्व होता रहा है। राष्ट्र संघ में तथाकथित हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों की नामजदगी -सरकार के जरिये ब्रिटिश-सरकार के सलाह मशविरे से होती है; इसलिए असल में वे संघ में ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, हिन्दुस्तान के लोकमत का वे जरा भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसलिए आप कह सकते हैं कि राष्ट्र-संघ में हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि बिलकुल

नहीं होता और ब्रिटिश सरकार को एक और अतिरिक्त प्रतिनिधि मिल जाता है। अगर हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व ठीक-ठीक हो तो मैं समझता हूँ कि राष्ट्र-संघ कुछ फायदा पहुंचा सकता है। लेकिन बुनियादी तौर से राष्ट्र-संघ दुनिया में मौजूदा हालतों को कायम रखने के लिए एक संगठन है और हिन्दुस्तानी स्पष्ट रूप से अपनी मौजूदा हालत को बदलना चाहते हैं। इसलिए अगर वे राष्ट्र-संघ के सामने कोई खास प्रस्ताव रखते हैं तो उस पर संघ के अहदनामे या नियम के अनुसार, जिसके अधीन संघ को चलना पड़ता है, रोक लगाई जा सकती है और कह दिया जा सकता है कि उससे ब्रिटिश-साम्राज्य की घरेलू नीति में दस्तन्दाजी होती है।

चौथा सवाल है—

"साम्प्रदायिक समस्या आर्थिक कारणों से कहाँ तक है?'

यह सवाल शायद ठीक तरह से नहीं रखा गया इसके लिए कुछ-कुछ जिम्मेदारी मेरी भी है। क्योंकि साम्प्रदायिक सवाल बुनियादी तौर पर आर्थिक कारणों की वजह से नहीं होता। उसके पीछे आर्थिक कारण होते जरूर हैं—उस पर अक्सर अपना असर डालते हैं; लेकिन उससे कहीं ज्यादा उसके कारण राजनीतिक होते हैं। मजहबी कारणों की वजह से वह नहीं होता, इस बात को मैं चाहता हूँ आप याद रखें। मजहबी लड़ाई या मुखालिफत से साम्प्रदायिक सवाल का कोई वास्ता नहीं होता। अगर कोई वास्ता है तो इतना ही कि उसके पीछे थोड़ा-सा मजहबी विरोध है, जो पिछले दिनों कभी-कभी जुलूसों वगैरा में लड़ाई की जड़ साबित हुआ है और उसमें सिर फूटे हैं। लेकिन मौजूदा साम्प्रदायिक सवाल मजहबी सवाल नहीं है, हालांकि कभी-कभी वह मजहबी भावनाओं का नाजायज फायदा उठाता है और उससे मुसीबत पैदा होती है। यह तो एक उच्च मध्य-वर्ग के लोगों का राजनीतिक सवाल है, जो कुछ तो सरकार के राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने या उसमें फूट पैदा करने की कोशिश से पैदा हुआ है, और कुछ हिन्दुस्तान में आने वाली राजनीतिक सत्ता से लाभ पाने की आशा और पदों के नाजायज फायदे में

हिस्सा बटाने में उच्चवर्ग की इच्छा से पैदा हुआ है। एक हद तक यह सवाल आर्थिक भी है; क्योंकि सामूहिक रूप में मुसलमान हिन्दुओं की बनिस्बत गरीब हैं। कभी-कभी आप देखते हैं कि कर्जदाता हिन्दू हैं तो कर्जदार मुसलमान; कभी-कभी जमींदार हिन्दू हैं, तो काश्तकार मुसलमान। हिन्दू भी काश्तकार हैं और मर्दुमशुमारी में उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि असल में झगड़ा तो कर्जदाता और उनके कर्जदार के बीच या जमींदार और उनके किसान के बीच होता है, लेकिन वह अखबारों में छप जाता है और उसकी अहमियत हिन्दू-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक झगड़े की हो जाती है। बुनियादी तौर पर यह साम्प्रदायिक समस्या उच्च मध्य-वर्ग के हिन्दुओं और मुसलमानों में नये विधान में नौकरियां पाने और ताकत पैदा करने के लिए लड़ाई की समस्या है। जनता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक भी साम्प्रदायिक मांग किसी आर्थिक मसले से सम्बन्ध नहीं रखती और न जनता से ही उसका कोई वास्ता है। अगर आप साम्प्रदायिक मांगों की जांच करें तो आप देखेंगे कि वे सिर्फ असेम्बलियों या कौंसिलों में आपस में मिलने वाली सीटों के लिए हैं या तरह-तरह की नौकरियों के लिए हैं।

पांचवां सवाल है—

"उत्तर पश्चिमी सरहद और बंगाल की समस्या को सुलझाने में आप और कौन-सा तरीका इस्तैमाल करेंगे ?"

संक्षेप में दूसरा तरीका मैं यही बताऊँगा कि समझौता किया जाय और समस्या के सुलझाने की आर्थिक आधार पर कुछ कोशिश की जाय; क्योंकि जरूरी तौर पर सरहदी लोगों की मुश्किल उनका क़हत है। पहाड़ों पर वे रहते हैं। जमीन कड़ी है। खाने की तलाश में और लूट-मार करने के लिए ही वे नीचे उतरकर आते हैं। जहाँतक मेरा संबंध है, मैं तो नहीं सोचता कि सरहद की समस्या को हल करना मुश्किल है। अगर उसे ठीक और हमदर्दी के साथ सुलझाया जाय, तो मेरा खयाल है कि वह बहुत आसानी से सुलझ सकती है। मेरा खयाल है कि दरअसल ऐसी ही—बिल-

कुल वही नहीं लेकिन ऐसी ही—समस्या उन्नीसवीं सदी में रूस की सरकार यानी जार सरकार के सामने थी; क्योंकि उसकी सरहद बहुत पास थी और करीब-करीब ऐसे ही आदमियों के साथ व्यवहार करना था। जहाँतक मैं जानता हूँ, उन आदमियों के साथ व्यवहार करने में सरकार को कभी कोई कठिनाई नहीं हुई; निश्चय ही इतनी कठिनाई तो कभी नहीं हुई जितनी ब्रिटिश-सरकार को करीब सौ बरस से हो रही है। साफ बात तो यह है कि ब्रिटिश-सरकार की सरहदी-नीति भयानक और एकदम नाकामयाब रही है। और सरहदी-सवाल को पुश्तों तक सुलझाने पर भी वे तय नहीं कर पाते और हर साल या हर दूसरे साल वह सवाल उठ खड़ा होता है; और फौजी चढ़ाई करके कत्ल करने, बम बरसाने और ऐसी ही बहुत-सी बातें करने के बावजूद भी कुछ नहीं होता, तो साफ है कि उनकी नीति में ही कोई कमी है। जार की सरकार को तो कभी उन सब कठिनाइयों को मुकाबला नहीं करना पड़ा, जिनका कि ब्रिटिश सरकार कर रही है। इसका कारण, मैं सोचता हूँ, यह है कि जार की सरकार ने सरहदी लोगों को कहीं ज्यादा सीधी-सादी जिन्दगी बिताने की सुविधा दी थी। उसने उनसे उपनिवेश बसाने की कोशिश की और देश में उन्हें बसाना चाहा। यह मैं अपनी सलाह के तौर पर पेश कर रहा हूँ। निश्चित रूप से कहने के लिए मैं काफी बातें नहीं जानता कि क्यों जार की सरकार को उतनी कठिनाई नहीं हुई जितनी कि ब्रिटिश-सरकार को सरहदी आदमियों से सुलझने में हो रही है। फिर भी, इस समस्या से सम्बन्धित आदमी ज्यादा नहीं हैं और आर्थिक आधारों पर उनसे व्यवहार करने में, जिससे कि उनकी आर्थिक माँग दूर हो जाय, कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। और बाकी के लिए यह है कि उनसे सम्बन्ध कायम करने में सहानुभूति की भावना होनी चाहिए, ऐसे नहीं जैसे कि हाल ही में इटली वालों ने अबीसीनिया में कायम किये हैं, वह तरीका तो एकदम नाकामयाब रहा है। सरहदी आदमी बड़े बहादुर आदमी हैं। उन्हें इसकी ज्यादा परवा नहीं होती कि वे जीयेंगे या मरेंगे; लेकिन वे दूसरों के अधीन रहना पसन्द नहीं करते। वे आजादी-

पसन्द आदमी हैं, जैसे कि पहाड़ी आदमी अक्सर हुआ करते हैं। ब्रिटिश-सरकार उनका स्थायी रूप से दमन करने में कामयाब नहीं हुई। वह उन्हें समय-समय पर जीत सकती है, लेकिन उनका दमन नहीं कर सकती।

जहाँ तक सहानुभूति के साथ सम्बन्ध कायम करने का सवाल है, बरसों से सरहदी लोग गांधीजी को वहां आने का निमंत्रण दे रहे हैं। मुझे यकीन है कि कुछ बरस पहले वह सरहदी सूबे में गये भी थे, लेकिन उन्होंने सरहद पार नहीं की थी। और न ठेठ वहाँ तक पहुँचे ही थे। सरहद के दोनों तरफ उनका नाम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। सरहदी आदमियों में वह बहुत मशहूर हैं और बार बार उधर आने के लिए उन्हें न्यौता दिया गया है, लेकिन सरकार ने उन्हें वहां जाने की इजाजत नहीं दी। सरकार की मर्जी के खिलाफ वह वहाँ नहीं जाना चाहते। इस मामले पर उन्होंने सरकार से झगड़ा मोल लेना पसन्द नहीं किया। इसलिए जब कभी उन्होंने जाना चाहा, तब यह कहकर उन्होंने वाइसराय या भारत सरकार के सामने यह बात रखी कि—"मुझे वहाँ बुलाया गया है, और मैं जाना चाहूँगा।" और हमेशा उन्हें एक ही जवाब मिला, "हमारी जोरदार राय है कि आप वहाँ न जायं।" यह करीब-करीब मनाही के ही बराबर होता है। इसलिए वह नहीं गये। गांधीजी के अलावा सरहदी सूबे के बड़े नेता अब्दुलगफ्फारखाँ का उस तमाम हिस्से पर बहुत असर है और वह वहाँ मशहूर भी हैं। यह ताज्जुब की बात है कि वह उस हिस्से में ऐसी जबरदस्त हस्ती कैसे बन गये? और यही बात काफी थी जिससे कि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बेहद नापसंद किया। ऐसे फिसादी पठानों पर भी जिस आदमी का इतना भारी असर है, वह तो ऐसा आदमी होगा जिसे कोई भी सरकारी अफसर पसंद नहीं करेगा। इस-लिए वह अपना वक्त जेल में काट रहे हैं। इस वक्त भी वह जेल में हैं। बिना मुकद्मा चलाये दो तीन साल जेल में रह चुकने के बाद वह पिछले साल छूटे थे; लेकिन बाहर वह सिर्फ तीन महीने ही रह पाये और फिर दो साल की सजा काटने के लिए जेल भेज दिए गए।

वही सजा अब काट रहे हैं। आप शायद जानते हों कि सबसे ऊँची कांग्रेस-कार्यसमिति के वह मेम्बर हैं। वह सरहद के ही नहीं, बल्कि तमाम हिन्दुस्तान के सबसे लोकप्रिय आदमियों में से एक हैं। उनके नाम से आप महसूस करेंगे कि वह मुसलमान हैं; हिन्दू नहीं। वह हिन्दुस्तान की जनता के सबसे बड़े मुसलमान नेताओं में से एक हैं। कांग्रेस-आन्दोलन में ऊँची-से ऊँची जगहों में उनका स्थान है। आपको यह याद रखना चाहिए कि कांग्रेस-आन्दोलन के पीछे, हालांकि उसमें अनिवार्य रूप से मुख्यतः हिन्दू हैं, मुसलमानों की बड़ी ताकत है। इसलिए अब्दुलगफ्फार-खाँ और गाँधीजी सरहद में जाते तो मेरी राय में उनका बहुत शानदार स्वागत किया जाता और वहां वे दूसरी और बातों के साथ सरहदी समस्या पर भी गौर कर सकते। मैं नहीं सोचता कि उस समस्या को सुलझाना मुश्किल होगा। मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि उनके जाने से वहां की सारी मुसीबतों का खात्मा हो जायगा। ऐसा कहना तो फिजूल होगा। कुछ मुसीबतें तो बार बार उठती ही रहेंगी; लेकिन पायेदारी की नींव डाली जा सकती थी। और अगर कुछ आर्थिक उपाय भी काम में लाये जाते तो मैं समझता हूँ कि बार-बार आने वाली मुसीबत का निश्चय ही खात्मा हो जाता।

बंगाल के बारे में यह है कि वहां पर आतंकवाद को, जितने कि वह लायक है उससे कहीं अधिक नाम और विज्ञापन दिया गया है। इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता कि आतंकवाद बंगाल में रहा है और अब भी है; लेकिन आखिरकार आप सोचिए कि अगर हिन्दुस्तान जैसे मुल्क में या बंगाल जैसे बड़े सूबे में दो-तीन साल में एक दो आतंक के मामले हो भी गये तो क्या? (पिछले दो सालों में, मैं समझता हूँ; एक भी मामला नहीं हुआ। तीसरे साल में शायद एक या दो हुए हैं।) आतंकवाद की ऐसी दीन हालत है और वह उतना खतरनाक भी नहीं है। इस मामले में हमें अपनी अक्ल को नहीं खोना चाहिए। यह पहली चीज है जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। दूसरे जहां तक मैं

जानता हूँ (स्पष्ट रूप से सीधी और तुरंत की मुझे कोई खबर नहीं है; क्योंकि मैं दो-तीन साल से जेल में ही रहा हूँ) वहाँ कोई भी संगठित आतंकवादी आंदोलन अब नहीं है। पहले था; लेकिन शायद बंगाल या कहीं भी हिन्दुस्तान में अब कोई आंदोलन नहीं है। मेरा मतलब इससे यह नहीं है कि बंगाल या और कहीं के आदमी हिंसात्मक तरीकों में विश्वास ही नहीं रखते। ऐसे आदमी बहुत-से हैं जो हिंसात्मक तरीकों में और क्रांति में विश्वास करते हैं; लेकिन मेरा ख्याल है कि वे आदमी भी जो पहले आतंकवादी कामों में विश्वास करते थे, अब वैसा नहीं करते, यानी, पुराने आतंकवादी या उनमें से बहुत-से अब भी सोचते हैं कि सभी संभावनाओं में शासक सत्ता से लड़ने के लिए सशस्त्र बल-प्रयोग की जरूरत हो सकती है; लेकिन वैसा वे बलवा, बल-प्रयोग या किसी तरह के संगठित विद्रोह की परिभाषा में सोचते हैं। अब वे बम फेंकने या आदमियों को गोली मार देने की बात नहीं सोचते हैं। मेरे ख्याल से बहुत-से तो गांधी जी के अहिंसा के आन्दोलन की वजह से आतंकवादी आन्दोलन से एकदम दूर हट गये हैं। जो रहे, वे भी निरे आतंकवादी खयाल के नहीं रहे, जो कि जैसा आप जानते हैं, राजनीतिक आन्दोलन में एक बड़ा बच्चों का-सा खयाल है। जब राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है तो उसकी जड़ में जोश, बेबसी और मायूसी होती है, जो भड़के हुए जवानों को आतंकवादी काम करने के लिए मजबूर कर देती है; लेकिन ज्यों-ज्यों आन्दोलन बढ़ता जाता है, और मजबूत होता जाता है, त्यों-त्यों आदमियों की ताकत एक संगठित काम करने में, सामूहिक-आन्दोलन चलाने वगैरा में, लगती है। ऐसा हिन्दुस्तान में हुआ है, और फलस्वरूप आतंकवादी आन्दोलन करीब-करीब खत्म होगया है। लेकिन बंगाल में जो खौफनाक सख्तियां की जा रही हैं उन्होंने जरूर ही पुराने आतंकवादियों के दल की आँखें बदला लेने के लिए खोल दी हैं। मिसाल के तौर पर, एक शख्स जब अपने दोस्तों पर अपने ही शहर में बड़ी खौफनाक बातें होते देखता है, तो उसका खून खौलने लग जाता है। संभव है उन्हीं अत्याचारों का वह

अकेला आदमी या दो-तीन मिलकर बदला लेना निश्चय करते हैं। संगठन के रूप में उसका आतंकवाद से कोई सरोकार नहीं है। वह तो एकदम बदला लेने के लिए शख्शी कार्रवाई है। ऐसे आतंकवादी काम कभी-कभी होते हैं, लेकिन, जैसा कि मैंने कहा, पिछले दो सालों में यह भी नहीं हुआ। फिर पुराने आतंकवादियों को पुलिस अच्छी तरह जानती है। उनमें से बहुत-से तो बाहर निकाल दिए गए हैं या जेल में डाल दिए गए हैं। कुछ को फाँसी पर लटका दिया है, लेकिन मेरा खयाल है, कुछ अब भी इधर-उधर हैं। दो-तीन साल हुए उनमें से एक से मैं मिला था। पुराने दिनों में आतंकवादी आंदोलन का वह एक खास आदमी था। वह मुझसे मिलने आया और कहने लगा—"निश्चित रूप से मेरी राय है कि आतंकवाद के काम ठीक नहीं हैं। मैं उन्हें अब नहीं करना चाहता। अपने आदमियों पर भी मैं जोर डाल रहा हूँ कि वे भी न करें। लेकिन अब मैं क्या करूँ? कुत्ते की तरह मेरा पीछा किया जाता है! मैं एक जगह से दूसरी जगह जाता हूँ। मैं जानता हूँ कि जब कभी पकड़ा जाऊँगा मुझे मौत की सजा मिलेगी। वैसा मैं नहीं करना चाहता। जब पकड़ा जाऊँगा, तब अपने बचाव के लिए गोली चलाऊँगा।" यह अक्सर देखा जाता है कि पुराना अतंकवादी घेर लिया जाता है और पकड़ लिया जाने वाला होता है, तभी वह गोली चलाता है। जाल उसे फाँस लेता है और तब वह फांसी के तख्ते पर लटकने की बनिस्बत गोली चलाना और गोली खाकर मर जाना पसन्द करता है।

मैं जो कहना चाहता हूँ, उसका मतलब यह है कि क्रान्तिकारी आंदोलन आक्रमणकारी ढंग से बिलकुल नहीं चल रहा है। कभी-कभी कोई शख्स भड़ककर या बचाव के लिए, जब कि वह पकड़ा जाता है, कोई आतंकवादी काम कर बैठता है, नहीं तो आतंकवाद खत्म ही हो गया है। जब ऐसी बात होती है, तब उसकी जड़ में मनोवैज्ञानिक या दूसरे कारण होते हैं, और यह तो बिलकुल हिमाकत की बात है कि फौजी कानूनों के अस्थायी तरीकों से उसका दमन किया जाय। औसत फौजी

आदमी तो किसी समस्या का हल सिर्फ फौजी कानूनों की ही परिभाषा में सोच सकता है। हमारी बदकिस्मती से हमारे गैरफौजी आदमियों के भी दिमाग ज्यादातर फौजी तरीकों पर ही चलते हैं। इसलिए स्पष्ट रूप से बेचारा आतंकवादी अपनी ही जिंदगी से खेलता है। कौन जानता है कि इसकी जान उसी घड़ी नहीं चली जायगी, जिस घड़ी वह आतंकवादी काम करता है? मान लीजिए एक आदमी भीड़-भरे हाल में जाता है और दूसरे आदमी को गोली से मार देता है। ऐसी हालत में उसकी जान भी बच नहीं सकती। मेरी समझ में नहीं आता कि जो आदमी अपनी जिंदगी की बाजी लगाने के लिए तैयार है, वह फौजी कानूनों से, जो उसके खिलाफ लगाये जा सकते हैं, कैसे भयभीत किया जा सकता है? वह तो जानता है कि जब वह अपना आतंकवादी काम करता है, तब उसका मरना भी निश्चित है। आमतौर पर वह अपनी जेब में थोड़ा-सा जहर ले जाता है और काम करने के बाद उसे खा लेता है। होता क्या है, बेचारे बहुत-से भोले-भाले बेकसूर आदमियों को मुसीबत आती है।

छठा सवाल है—

"इस मुल्क के आदमी किस तरीके से मदद कर सकते हैं? आपके विचार में मेल-जोल करनेवाला कोई दल कितना काम कर सकता है?"

"इस सवाल का जवाब देना आसान नहीं है, हालांकि बहुत-सी जगहों पर मैंने इसका जवाब दिया है—क्योंकि किस तरीके से मदद कर सकते हैं, यह यहाँ की बदलती हालतों पर निर्भर है, लेकिन निश्चय ही बहुत-कुछ किया जा सकता है, अगर लोग हिन्दुस्तान की समस्याओं में जितनी जरूरत है उतनी दिलचस्पी लें और हिन्दुस्तान और दुनिया दोनों के दृष्टिकोणों को सामने रखकर सोचें कि उसके लिए ठीक हल की आवश्यकता है। मैं नहीं जानता कि मौजूदा हालतों में अकेले दलों का कुछ प्रभाव पड़ सकता है। यानी अकेले दल सरकार की नीति को नहीं बदल सकते, हालांकि मामूली बातों में वे उसमें कुछ हेर-फेर कर सकते हैं;

लेकिन आपके जैसे दल हिन्दुस्तान के हालात को हमेशा यहां लोगों के सामने रख सकते हैं। मिसाल के तौर पर लीजिए। अब भी अंग्रेज लोग यह नहीं जानते कि हिन्दुस्तान में कितनी सख्तियाँ हो रही हैं और हिन्दुस्तानियों को उनकी नागरिक स्वतन्त्रता से कैसे वंचित किया जा रहा है। मुझे बतलाया गया है कि कोई एक महीना पहले पार्लमेण्ट में राजनीतिक कैदियों के बारे में कुछ कहा गया था। कुछ लेबर मेम्बरों ने सवाल उठाया था और कुछ कंज़रवेटिव मेम्बरों ने कहा था—"आप क्या कहते हैं? क्या अब भी हिन्दुस्तान में राजनीतिक कैदी हैं?" इस सवाल से पता चलता है कि इस बारे में कितना अज्ञान फैला हुआ है। हिन्दुस्तान में बहुत से आदमी ऐसे हैं, जो जेलों में डाल दिये जाते हैं और पांच-पांच छः-छः बरस तक या और ज्यादा सालों तक उनकी अदालत में पेशी भी नहीं होती। बहुत से मामूली राजनीतिक कैदियों को रोज सजायें होती रहती हैं और जुल्म की मशीन भी रोज चलती रहती है। मैं समझता हूँ कि औसत अंग्रेज मर्द-औरतों के लिए हिन्दुस्तानियों की नागरिक स्वतंत्रता की समस्या को समझने के लिए वहां की समस्याओं की बहुत ज्यादा जानकारी की जरूरत नहीं है। औसत अंग्रेज समझते हैं कि नागरिक स्वतन्त्रता जरूरी चीज है और हिन्दुस्तान की घटनायें जब उनके सामने रखी जाती हैं तो उन्हें धक्का-सा लगता है। उनको यह पसंद नहीं है कि हिन्दुस्तान को नागरिक स्वतन्त्रता न दी जाय। मैं समझता हूं, इन बातों को इस मुल्क के लोगों के सामने रखने से ही बहुत काम हो सकता है। और जुदा-जुदा दलों के मिलकर काम करने से ऐसा बहुत-कुछ किया जा सकता है। मुझे यकीन है कि 'नागरिक-स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिए जो यहां 'नेशनल कौंसिल' है, वह जो दिशा मैंने बतलाई है उस दिशा में दूसरे दलों से मिलकर काम कर सकती है।

हिन्दुस्तान की विशेष समस्याओं और खासकर आर्थिक स्थितियों का जहाँ तक सवाल है, हमें देखना है कि किस तरीके से राजनीतिक समस्यायें आर्थिक समस्याओं पर निर्भर होती हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि

इस बारे में विचार किया जाता है, तब राजनीतिक समस्या की ठीक दृष्टि से जाँच हो सकती है। ऐसा न करने से आपका काम हवा में किले बनाने जैसा होगा, जैसा कि हम इन गोलमेज कान्फ्रेंसों और दूसरी कान्फ्रेंसों में करते रहे हैं। बहुत से वकील बैठ जाते हैं और कागजी विधान तैयार कर देते हैं, जिसका हिन्दुस्तान की मौजूदा बातों और हालत से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसका सम्बन्ध तो सिर्फ एक बात से होता है, और वह यह कि हिन्दुस्तान में उनका स्थापित स्वार्थ ज्यादा-से-ज्यादा दिन कायम रहे। इसलिए इस मुल्क का कोई भी दल निश्चय ही हिन्दुस्तान की काफी मदद कर सकता है। हिन्दुस्तान ही क्यों, बल्कि, जैसा मैं सोचता हूँ कोई कह सकता है, नागरिक स्वतन्त्रता और उसके साथ दूसरे मामलों के प्रश्न पर तमाम मानव जाति की मदद कर सकता है।

'रिकंसीलियेशन दल' के बारे में मुझसे कहा गया है कि वह कोई संगठन नहीं है; बल्कि एक दल है, जिसकी कोई निश्चित मर्यादायें नहीं हैं। ऐसे दल ने, मेरा खयाल है, पिछले दिनों अच्छा काम किया है और मैं समझता हूँ कि वह निश्चय ही आगे भी अच्छा काम कर सकता है। मैंने सलाह दी है कि सामूहिक रूप में हिन्दुस्तान के बारे में या किन्हीं खास सवालों में, जैसे नागरिक स्वतन्त्रता का सवाल, दिलचस्पी रखने वाले जुदा-जुदा दलों के लिए यह उचित होगा कि वे एक-दूसरे के संपर्क में रहें। अपने मुख्तलिफ खयालात होने की वजह से अगर वे एक-दूसरे में मिल नहीं सकते तो कोई बात नहीं है। यह जरूरी नहीं है कि एक दल दूसरे दल के दृष्टिकोण को लेकर चले। यह भी नहीं कि एक दल अपने लिए वही मान्यतायें पैदा कर ले जो दूसरे दल ने अपने लिए पैदा कर ली हैं, लेकिन फिर भी उन दोनों में बहुत-सी समानतायें हो सकती हैं। कभी-कभी वे आपस में मिलें या उनके प्रतिनिधि आपस में सलाह-मशविरा करें, जिससे उनकी कार्रवाइयां एक-दूसरे के ऊपर न आ जायं बल्कि एक-दूसरे की पूरक हों।

आखिरी और सातवां सवाल है—

"क्या भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को कोई क्रियाशील एजेंसी लंदन में नहीं रखना चाहिए, जो ठीक-ठीक खबरें फैलाती रहे ?"

मैं सोचता हूँ यह बहुत अच्छी चीज होगी और उसूलन कोई भी इसका विरोध करेगा, इसमें मुझे शक है। आपको याद रखना चाहिए कि पिछले छः बरसों में हिन्दुस्तान बड़ी मुसीबतों में से होकर गुजरा है। उन छः बरसों में चार बरसों तक कांग्रेस एक गैर कानूनी जमात रही। हम हमेशा गैरकानूनी हलचल के किनारे ही चक्कर लगाते रहे हैं। कौन जाने, किस घड़ी गैर-कानूनी करार दे दिये जायँ, हमारे कोष जब्त हो जायँ, हमारी जायदाद जब्त हो जाय और पद छिन जायँ। इसलिए ऐसे समय में विदेशी एजेंसी कायम करने में कुछ मुश्किल मालूम पड़ती है; लेकिन ऐसा होना जरूरी है। मेरी बड़ी इच्छा है कि एक समाचार-दफ्तर यहां हो, और यूरोप के दूसरे हिस्से में हो, जो प्रचार के अलावा ठीक-ठीक खबरें दे, किताबें और कागज मुहय्या करे, जिससे वे खबरें उन आदमियों को मिल सकें जो उन्हें पाना चाहते हैं।

बातचीत में आगे सवाल किया गया—

"कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है या आलोचना सुनने में आती है कि अंग्रेज हिन्दुस्तान से चले आते हैं तो इससे जापान के लिए रास्ता खुल जायगा। अबसे पहले वह रास्ता रूस के लिए खुलता, लेकिन अब उस बारे में जापान का नाम लिया जाता है। क्या उस बारे में आप अपने विचार जाहिर करेंगे ?"

मुझे ऐसा दिखाई देता है कि वे लोग जो ऐसा कहते हैं हिन्दुस्तान के बारे में जापान की मौजूदा या आगे की हालत ज्यादा नहीं जानते। इस सवाल पर बहुत-से तरीकों से विचार किया जा सकता है; लेकिन संक्षेप में मैं आपसे बस इतना ही कहूँगा—जापान के हिन्दुस्तान में किस रास्ते से आने की आप उम्मीद करते हैं ? समुद्र से या जमीन से ? क्या आप उम्मीद करते हैं कि जापान तमाम चीन को जीतने के बाद हिन्दुस्तान आयगा या उसे जीतने के पहले आयगा ?

आपको यह जानना चाहिए कि समुद्र द्वारा हिन्दुस्तान से इंग्लैंड जाने की बनिस्बत जापान जाने में ज्यादा वक्त लगता है। जमीन से या हवाई जहाज द्वारा इंग्लैंड से हिन्दुस्तान जाने में बहुत थोड़ा वक्त लगता है; लेकिन जापान जाने में बहुत ज्यादा वक्त लगता है। हिमालय, रेगिस्तानों और चीन के दूसरे रास्तों को पार करना आसान नहीं है। इसलिए आपको समझना चाहिए कि अगर जापान चीन में होकर आता है तो आसानी से हिन्दुस्तान में प्रवेश नहीं कर सकता। जापान को सिंगापुर में होकर बड़े टेढ़े-मेढ़े रास्ते से आना होगा और कोई भी मुखालिफ जहाजी-बेड़ा उसके लिए हिन्दुस्तान आना मुश्किल कर सकता है। इतना होने पर भी शायद जापान आ सकता है; लेकिन असली सवाल तो यह है कि जापान तब तक हिन्दुस्तान जीतने की बात नहीं सोच सकता जबतक कि चीन को पूरी तरह से नहीं जीत लेता और उसे अपने राज्य का एक हिस्सा नहीं बना लेता। चीन को जीतना बड़ा मुश्किल काम है। इस वक्त जापान ने उत्तरी चीन को जीत लिया है और वह शायद आगे दक्षिण की ओर बढ़ जाय; लेकिन मैं नहीं समझता कि कोई भी आदमी, जो चीन के इतिहास को जानता है या चीन की मौजूदा हालत या अन्तर्राष्ट्रीय हालत जानता है, वह कभी भी सोच सकता है कि जापान अपना राज्य तमाम चीन में कायम कर सकेगा। चीन जापान के लिए बहुत बड़ी विकट समस्या है। अगर उसे जीत भी लिया गया तो भी वह उसके लिए एक समस्या बनी ही रहेगी, और वास्तव में जापान की ताकत उसमें लगी रहेगी। शायद इससे उसका पतन ही हो जाय। दुनिया की बड़ी ताकत के रूप में आज जो जापान की हालत है, उसे देखिए। वह बहुत मजबूत दिखाई देता है। कोई भी उसके राज-सम्बन्धी विचारों और कामों में दखलदराजी नहीं करता। वह उत्तरी चीन और मञ्चूरिया में मनमानी कर रहा है; लेकिन असल में दुनिया में जापान की हालत बड़ी दीन है। बाकी दुनिया से वह अलहदा कर दिया गया है और दुनिया में उसका कोई भी दोस्त नहीं है। उसके एक

तरफ बहुत बड़ी ताकत अमरीका है और जापान व अमरीका के संयुक्त-राष्ट्र में ज्यादा प्रेमभाव नहीं है। दूसरी तरफ चीन है, जो कि एक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी बहुत-सी बातों में बहुत मजबूत है। वह असल में मजबूत है, क्योंकि उसकी निश्चेष्ट ताकत ज्यादा है। उसकी जड़ता भी बहुत भारी है। लेकिन इसके अलावा बलात्कार के सामने होते हुए भी आज चीन की कमजोरी का कारण जो मैं समझता हूँ वह यह है कि कुछ चीनी नेता चीन के प्रति सच्चे नहीं हैं। चीन के साथ विश्वासघात कर रहे हैं। चीन की कमजोरी इतनी नहीं है, जितनी कि उसके नेता चांग-काई-शेक वगैरा की कमजोरी है। इससे चांग-काई-शेक का पतन हो सकता है और बाद में संगठित रूप से और मजबूती से जापान का मुकाबिला किया जा सकता है। इसलिए हर हालत में जापान को विरोधी चीन का मुकाबिला करना पड़ेगा, चाहे वह पराजित कर दिया जाय या नहीं। इसलिए जापान के बहादुरी के साथ हिन्दुस्तान में आने के समय हालत यह होगी—एक तरफ अमरीका दूसरी तरफ चीन, उत्तर में रूस की रिपब्लिक, जिसके हमेशा विरोधी रहने की उम्मीद है। ऐसे में जापान तीन हफ्ते का लम्बा सफर करके हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करेगा, यह मेरी तो समझ में नहीं आता है। और तब तक हिन्दुस्तान भी खामोश नहीं बैठा रहेगा। वह चाहे मजबूत मुल्क न हो, लेकिन किसी भी बलात्कार से अपने को बचाने में कोई कसर न उठा रखेगा।

४ फरवरी १९३६।

1053

: ३ :

दुनिया की हलचलें और हिन्दुस्तान

बार-बार की हलचलों और घरेलू मुसीबतों में बेहद फँसे रहने के कारण पश्चिमी देशवाले अगर हिन्दुस्तान की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते तो इसमें आश्चर्य क्या है ? कुछ भले ही हिन्दुस्तान के अनमोल अतीत की ओर खिंचें और उसकी प्राचीन संस्कृति की सराहना करें, कुछ आजादी के लिए खून बहाते लोगों के साथ हार्दिक सहानुभूति महसूस करें, दूसरों में मानवोपयोगी भावनायें उठें और वे साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा एक बड़े महान् राष्ट्र के शोषण और हैवानी व तंगदस्ती की निन्दा करें; लेकिन ज्यादातर लोग ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान की हालतों से एकदम अनजान हैं। उनकी अपनी ही मुसीबतें क्या थोड़ी हैं ? उन्हें वे और क्यों बढ़ावें ?

फिर भी सार्वजनिक मामलों में दखल देनेवाला चतुर आदमी जानता है कि मौजूदा दुनिया के मामलों को बन्द कमरों में नहीं रखा जा सकता। अलहदा-अलहदा, बिना एक-दूसरे का विचार किये, उनपर कामयाबी के साथ विचार नहीं किया जा सकता। वे एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं और आखिर में जब देखा जाता है तो वह एक दुनिया भर का मसला बन जाता है, जिसके जुदा-जुदा पहलू होते हैं। पूर्वी अफ्रीका के रेगिस्तानों और उजड़े प्रदेशों की घटनाओं की गूंज दूर चांसलरी में सुनाई देती है और उनकी भारी छाया यूरोप पर पड़ती है। पूर्वीय साइबेरिया से चली गोली सारी दुनिया में आग लगा सकती है। बहुत-सी पेचीदी समस्यायें आज यूरोप को तंग कर रही हैं। फिर भी ठीक यह है कि भविष्य का इतिहास सच्ची दृष्टि से चीन और हिन्दुस्तान को आज की अहम समस्यायें मानेगा और मानेगा कि दुनिया की घट-

नाओं के निर्माण में उनका बड़ा गहरा असर पड़ेगा। हिन्दुस्तान और चीन जरूरी तौर पर दुनिया-भर की समस्यायें हैं। उन्हें दरगुजर करना या उनकी महत्ता कम करना दुनिया के घटना-चक्र का अज्ञान बढ़ाना है। इससे बुनियादी बीमारी भी पूरी तरह से समझ में नहीं आवेगी, जिससे हम सब पीड़ित हैं।

हिन्दुस्तान की समस्या भी इस तरह आज की समस्या है। उसके बीते दिनों की सराहना करने या निन्दा करने से हमें मदद नहीं मिलती। मदद सिर्फ उसी हद तक मिलती है जहां तक कि बीते दिनों की बातें समझने से और मौजूदा बातें समझने में सहूलियत हो जाती है। हमें महसूस करना चाहिए कि अगर कोई बड़ी घटना वहां घटेगी; तो दुनिया पर भी उसका भारी असर पड़ेगा और हममें से कोई भी, हम चाहे कितनी ही दूर क्यों न रहें, चाहे किसी भी राष्ट्र या दूसरे में निष्ठा रखते हों, बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इसलिए इस विशद दृष्टिकोण से इस पर यह सोचकर विचार करना चाहिए कि तात्कालिक समस्याओं का, जो आज हमारे सामने हैं, यह एक अंग है।

सब जानते हैं कि हिन्दुस्तान पर डेढ़ सौ वर्ष से ज्यादा अर्से से शासन करने में अंग्रेजों की विदेशी और घरेलू नीति पर बड़ा भारी असर पड़ा है। हिन्दुस्तान के धन-शोषण से औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के दिनों में अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिए इंग्लैंड को आवश्यक पूँजी मिली। उसके तैयार माल के लिए बाजार भी मिला। नेपोलियन की लड़ाइयों और क्रिमियन-युद्ध में भी हिन्दुस्तान जड़ में था, और उसके रास्तों को संरक्षण में रखने की इच्छा से ही इंग्लैंड को मिस्र और मध्य-पूर्वीय मुल्कों में दखलंदराजी करनी पड़ी। रास्तों पर अधिकार रखने की नीति लड़ाई के बाद की दुनिया में भी चलती रही और अब भी इंग्लैंड आग्रहपूर्वक इन रास्तों से चिपटा हुआ है। महायुद्ध के बाद फौरन ही अंग्रेज राजनीतिज्ञों के दिमाग में एक शानदार ख्वाब आया कि एक विस्तृत मध्य-पूर्वीय राज्य कायम करें, जो कुस्तुनतुनिया से हिन्दुस्तान तक फैला हो; लेकिन सोवियट

रूस और कमालपाशा की वजह से और फारस में रजाशाह और अफगानिस्तान में अमानुल्ला के उत्थान और सीरिया में फ्रांस के शासनादेश के कायम होने से वह ख्वाब पूरा न हो सका। हालांकि वह बृहद् विचार कोई शक्ल अख्तियार न कर सका, फिर भी इंग्लैंड हिन्दुस्तान के खुश्की के रास्तों पर काफी कब्जा किए रहा और इसी कारण मोसल के प्रश्न पर टर्की के संघर्ष में आया। इसी अधिकार की नीति की वजह से इंग्लैंड को प्रोत्साहन मिला कि इथोपिया में अनायास ही वह राष्ट्र-संघ का सर्वेसर्वा बन जाय। इंग्लैंड की नैतिक भावना उस समय इतनी नहीं जगी थी, जब मंचूरिया में संघ का मजाक बनाया गया था।

दुनिया की समस्या आखिर साम्राज्यवाद—वर्तमान आर्थिक साम्राज्यवाद—की है। इस समस्या का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि यूरोप तथा सारी जगहों में फासिज्म फैला है; सोवियट रूस का उत्थान हुआ है, ताकत बढ़ी है और उसने एक ऐसी नई संस्था का प्रतिनिधित्व किया है जो खासतौर से साम्राज्यवाद की विरोधी है। यूरोप के मुखालिफ और फासिस्ट-विरोधी दलों में बँट जाने से लड़ाई अब साम्राज्यवाद की और उन नए दलों की हो गई है जो उसे खतरे में डालने की धमकी देते हैं। औपनिवेशिक और अधीन देशों में इसी झगड़े ने आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रवादी आन्दोलन की शक्ल अख्तियार कर ली है। बढ़ते हुए सामाजिक मसले राष्ट्रवाद को और उभारते रहते हैं। अपने अधीन औपनिवेशिक राज्यों में साम्राज्यवाद फासिस्ट तरीके पर काम करता है। इस तरह इंग्लैंड घर पर प्रजातन्त्रीय विधान की शान बघारते हुए हिन्दुस्तान में फासिस्ट उसूलों के मुताबिक चल रहा है।

यह साफ है कि कहीं भी जब साम्राज्यवादी मोरचा भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया तमाम दुनिया पर होती है। यूरोप में या और कहीं फासिज्म की जीत से साम्राज्यवाद की मजबूती होती है, जिसकी प्रतिक्रिया सब जगह होती है। उसमें गलत होने से साम्राज्यवाद कमजोर होता है। सी तरह औपनिवेशिक या अधीन मुल्क में आजादी के आन्दोलन की

जीत से साम्राज्यवाद और फासिज्म को धक्का लगता है, और इसलिए यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि नाजी नेता क्यों भारतीय राष्ट्रवाद पर नाराजी जाहिर करते हैं और अपनी पसंदगी दिखाते हैं कि हिन्दुस्तान अंग्रेजी शासन के अधीन ही रहे। इस समस्या पर अगर उसके बुनियादी पहलुओं से विचार किया जाय तो वह मामूली समस्या है; परन्तु फिर भी दुनिया की तरह-तरह की शक्तियों के चक्कर में पड़कर वह कभी-कभी बड़ी पेचीदी बन जाती है। जैसे कि जब दो साम्राज्यवाद एक-दूसरे का विरोध करने लगते हैं और दूसरे के अधीन देशों में राष्ट्रवादी या फासिस्ट-विरोधी प्रवृत्तियों का शोषण करना चाहते हैं। इन पेचीदगियों से निकलने का सिर्फ एक रास्ता यही है कि उनके खास पहलुओं पर विचार किया जाय और स्थायी फायदा उठाने के लिए मौकों से ललचाया न जाय, नहीं तो अस्थायी फायदा बाद में बड़ा नुकसान देनेवाला साबित होगा और बोझ होगा।

हिन्दुस्तान ऐतिहासिकता और महत्ता की दृष्टि से आधुनिक साम्राज्यवाद का पहले दर्जे का मुल्क रहा है और है। अगर हिन्दुस्तान पर साम्राज्यवादी अधिकार में जरा भी विघ्न पड़ता है तो उसका दुनिया भर की स्थिति पर गहरा असर पड़ेगा। ग्रेट ब्रिटेन की, दुनिया की स्थिति में अजीबोगरीब हालत हो जायगी और उससे दूसरे औपनिवेशिक मुल्कों के आजादी के आन्दोलनों को बड़ी ताकत मिलेगी और इस तरह साम्राज्यवाद को हिला दिया जायगा। आजाद हिन्दुस्तान जरूर ही अंतर्राष्ट्रीय मामलों में ज्यादा हिस्सा लेगा, वह हिस्सा दुनिया में शांति पैदा करने और साम्राज्यवाद और उसके अंगों का विरोध करने के लिए होगा।

कुछ लोग सोचते हैं कि हो सकता है हिन्दुस्तान अंग्रेजों के राष्ट्र-दल का एक स्वतंत्र राज्य हो जाय, जैसे कनाडा और आस्ट्रेलिया हैं। यह तो एक अजीबोगरीब विचार लगता है। मौजूदा स्वतंत्र राज्य भी ग्रेट-ब्रिटेन से बंधे हुए होने पर भी धीरे-धीरे अलहदा हटते जा रहे हैं; क्योंकि उनके आर्थिक हितों में विरोध होता है। आयर्लैण्ड (कुछ ऐतिहा-

सिक कारणों से) और अफ्रीका तो बहुत हट गए हैं। हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के बीच कुछ कुदरती सम्बन्ध है और साथ ही उनमें तारीखी और बढ़ती हुई मुखालिफत भी है। साम्राज्य के बहुत-से हिस्सों में हिन्दुस्तानियों के साथ बुरा बर्ताव किया जाता है और उन्हें अलहदा करने की नीति बरती जाती है; लेकिन उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके आर्थिक हित विरोधी हैं। जबतक हिन्दुस्तान ब्रिटिश सरकार के कब्जे में है, तबतक वह संघर्ष ब्रिटेन को ही फायदा पहुँचाने वाला है। लेकिन ज्यों ही हिन्दुस्तान को सच्ची आजादी मिली कि दोनों अलहदा-अलहदा दिशाओं में जाने लगेंगे और विच्छेद जरूरी हो जायगा, अगर मौजूदा पूंजीवाद संस्था फिर कायम रही। इस सवाल का एक और दिलचस्प पहलू है। हिन्दुस्तान अपने आकार, मर्दुमशुमारी सम्पत्ति के कारण ब्रिटिश राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। जबतक बाकी राज्य उसका शोषण करता है तबतक वह साम्राज्यवादी किनारे पर रहता है; लेकिन ब्रिटेन के राष्ट्रीय दल में तो आजाद भारत जरूर ही उस तमाम दल के आकर्षण का केन्द्र बन जायगा। दिल्ली तब लन्दन को चुनौती देकर कहेगी कि राज्य का मुख्य केन्द्र तो यह है। ऐसी स्थिति इंग्लैंड तथा उसके राज्य के लिए असह्य होगी। वे पसंद करेंगे कि हिन्दुस्तान उनके दल के बाहर हो और आजाद और दोस्त मुल्क हो, बजाय इसके कि वह उन्हीं के घर का मालिक बन बैठे।

इसलिए यह दीखता है कि हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अधूरा रास्ता मुमकिन नहीं होगा। जब हिन्दुस्तान काफी ताकतवर होगा या जब दुनिया की स्थिति बढ़ेगी, तब वह एकदम स्वतंत्र मुल्क हो जायगा। यह कहना मुश्किल है कि इस आजादी की क्या शक्ल होगी, कितनी राजनीतिक आजादी उसके साथ में होगी, या बाद में सामाजिक स्वतंत्रता या नये आर्थिक विधान के हो जाने से मिलेगी; क्योंकि यह बहुत-सी बातों पर निर्भर है। दुनिया भर की हलचलें लाजिमी तौर पर उसपर अपना असर डालेंगी और उनसे आजादी या तो जल्दी मिल जायगी या

कुछ और टल जायगी और आजादी के सामाजिक तत्त्व की भी रूप-रेखा वे बनावेंगे। यह संभव है, जितनी राजनीतिक आजादी मिलने में देर होती जायगी, उतने ही सामाजिक सवाल स्थिति पर हावी होते जायंगे। अब भी हिन्दुस्तान के मामलों में वे सबसे खास सवाल हैं। आर्थिक स्थितियाँ इस सवाल को आगे बढ़ा रही हैं। सोवियट रूस के सफल उदाहरण से भी मदद मिल रही है।

हिन्दुस्तान को आजादी कब मिलेगी? इस पर भविष्यवाणी करना खतरनाक है; लेकिन दुनिया तेजी से आगे बढ़ रही है। घटनायें एक के बाद एक हो रही हैं। सारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद जल्दी-से-जल्दी कमजोर पड़ जायगा। इतनी जल्दी कि बहुत-से आदमी सोच भी नहीं सकेंगे। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय आंदोलन पिछले सोलह सालों में, जब से महात्मा गांधी ने उसका नेतृत्व लिया है और करोड़ों को संगठित प्रयत्न करने और बलि-दान करने के लिए प्रेरित किया है, बेहद बढ़ गया है। इन सोलह वर्षों में बिना रुकावट के वह चलता ही गया है। हालाँ कि उनमें उथल-पुथल होती रही है और तीन बार १९२०-२२में, १९३०-३१ में, १९३२-३४ में उसने असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा के ताकतवर आंदोलन से भी काम लिया, जिन्हों ने हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य की जड़ हिला दी। अंग्रेजों पर जो इसकी प्रतिक्रिया हुई है, उससे इन आंदोलनों की ताकत का अन्दाज किया जा सकता है। एकदम फासिस्ट तरीके की सख्तियों की खौफनाक शक्ल अंग्रेजों ने अख्तियार की। नागरिक स्वतंत्रता का अपहरण हुआ; प्रेस, व्याख्यान, सभा की आजादी छिनी; कोष, जमीनें, इमारतें जब्त हुईं; सैकड़ों संगठन जिनमें स्कूल, यूनिवर्सिटी, अस्पताल, बच्चों की सोसाइटी, सामाजिक काम करनेवाले क्लब शामिल थे, उनपर प्रतिबंध लगे; लाखों आदमियों और औरतों को जेल में डाल दिया गया; और कैदियों और दूसरे आदमियों को वहशियाना तरीके से मारा गया और उन के साथ बुरा बर्ताव किया गया। दूसरी तरफ राष्ट्रवादी दलों में रिश्वत दे-देकर और अल्पसंख्यक दलों को लालच दे देकर और मुल्क की तमाम सामंत-

शाही, प्रतिक्रियावादी और अज्ञात प्रवृत्तियों को संगठित करके फूट डालने का प्रयत्न किया गया। इन सब प्रतिक्रियावादियों के आपस में इकट्ठे होने का बाहरी निशान था गोलमेज कान्फ्रेंस; जो लन्दन में हुई। इस मेल का नतीजा निकला 'नये विधान' का कानून, जिसे ब्रिटिश सरकार ने पास किया। वह असल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सत्ता को और मजबूत करता है और मुल्क में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को ज्यादा महत्त्व देता है।

इसी बीच में हिन्दुस्तान में नई सामाजिक शक्तियों ने ताकत इकट्ठी कर ली है और समाजवादी और मार्क्सवादी विचार संगठित मजदूरों के दलों में और राष्ट्रीय कांग्रेस में फैल गये हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस में सोशलिस्ट पार्टी मुख्य अल्पसंख्यक दल है और उसका असर बढ़ रहा है। इन समाजवादी विचारों के बढ़ने से कांग्रेस में कुछ फूट की प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं। और ज्यों-ज्यों उसका विकास होगा, त्यों-त्यों इन विचारों की दृढ़ता और बढ़ती जायगी। सब मिलाकर कांग्रेस ब्रिटिश सम्राज्य-वाद के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा है, जिसमें बहुत दल शामिल हैं, और उसके खिलाफ साम्राज्यवाद के सहयोगी प्रतिक्रियावादी और फ्यूडल तत्त्वों का संयुक्त मोरचा है। इस स्थिति का यूरोप के फासिस्ट-विरोधी और फासिस्ट-दलबन्दी से मुकाबला किया जा सकता है। इन दो खास दलों के बीच कुछ आदमियों के छोटे-छोटे दल हैं। ये आदमी शशोपञ्ज में हैं, हालाँकि उनकी हमदर्दी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ है।

हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत बड़ी जटिल हो रही है, क्योंकि मुल्क पिछले सविनय-अवज्ञा आंदोलन की थकावट से स्वस्थ होता जा रहा है। ऐसे वक्त में गड़बड़ जरूरी तौर पर हो ही जाती है। नये विचारों को बहुत से तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं, बहुत से भयभीत हो जाते हैं। हालाँकि सविनय-अवज्ञा आन्दोलन अब नहीं चल रहा है और स्थिति साधारण हो गई है; लेकिन ब्रिटिश सरकार का दमन और नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण अब भी चल रहा है। कम्युनिज्म को दबाने के

नाम पर मजदूर-आन्दोलन को सताया जा रहा है, बहुत से मजदूर-संघ गैर-कानूनी करार दे दिये गए हैं, मजदूरों के नेता जेल भेज दिये गए हैं; आतंकवाद को दबाने के नाम पर मुल्क के बहुत से हिस्सों में राजनीतिक कामों को रोक दिया गया है। बहुत-से महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और मजदूरों के संगठनों पर अब भी प्रतिबन्ध हैं। जिस कानून को व्यवस्था सभा ने नफरत से दूर फेंक दिया था, उसी पर वाइसराय की कार्यकारिणी-द्वारा अमल किया गया है। उससे शासकों और पुलिस को बड़े-बड़े अधिकार दिए गए हैं, जिससे वे अच्छी तरह से नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक कार्रवाई को दबा दें। हजारों को स्थायी रूप से जेलों में डाल दिया गया है। न उनकी पेशी होती है, न उन पर जुर्म लगता है। हजारों को साजिश और राजनीतिक अपराधों के लिए जेलों में ठूंस दिया गया है। साधारण परिस्थितियों में अंग्रेजों की हुकूमत का यह रवैया है। इससे हिन्दुस्तान के आजादी के आन्दोलन की ताकत का और अंग्रेजों को जो उससे डर है उसका पता चलता है। अंग्रेज सरकार बराबर भयभीत रही है, और जब किसी सरकार को डर लगा रहता है तो वह अजीब और जंगली तरह से व्यवहार करती है।

यह साफ है कि ब्रिटिश-सरकार आजादी के इस आन्दोलन का खात्मा करने में कामयाब नहीं हो सकती। हां, जब राष्ट्र शिथिल हो जाता है तब थोड़े वक्त के लिए उसे भले ही दबाकर रख सकती है। यह भी साफ है कि नये विधान ने मुल्क के सब प्रगतिशील तत्त्वों को नाराज कर दिया है और भड़का दिया है। अब लोग उस विधान को राजी से स्वीकार नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान में शाही हुकूमत के खिलाफ जितनी नाराजी और मुखालिफत अब है उतनी पहले कभी नहीं हुई। फिलहाल सक्रिय राजनीति से गांधीजी अलहदा हो गये हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के वह बहुत ही जबरदस्त और प्रभावशाली आदमी रहे हैं और रहेंगे। करोड़ों आदमियों का नेतृत्व करने की उनमें शक्ति है और जब कभी कोई जरूरत का मौका आयगा, वह राजनीतिक क्षेत्र में फिर आजायंगे। यह

सोचना कि हिन्दुस्तान की राजनीति में उनकी मदद न मिलेगी, गलत और फिजूल है। हिन्दुस्तान में विचारों का संघर्ष है। और खींच-तान भी है, जैसा कि एक बड़े मुल्क के जीते-जागते आन्दोलन में स्वाभाविक होता है; लेकिन जहाँतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध का सवाल है, सब एक हैं। उन जमातों को छोड़िए, जिनको साम्राज्यवाद से फायदा पहुँचता है या जो साम्राज्यवाद की वजह से पैदा हुई हैं। इसमें शुबहा नहीं है कि जल्दी ही हिन्दुस्तान में बड़ी-बड़ी तब्दीलियां होंगी और आजादी पास आयगी।

तमाम दुनिया में राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों के पीछे एक आध्यात्मिक हलचल है, प्राचीन मूल्यों और विश्वासों का विरोध है; और झगड़े से बाहर निकलने के लिए रास्ते की खोज है। हिन्दुस्तान में भी शायद दूसरी जगहों से ज्यादा अध्यात्मवाद की उथल-पुथल है; क्योंकि भारतीय संस्कृति की जड़ें अब भी गहरी हैं और पुरानी जमीन में फैली हुई हैं, और हालांकि भविष्य इशारे से आगे बुला रहा है लेकिन भूत उसे मजबूती से रोके हुए है। प्राचीन संस्कृति से आधुनिक समस्याओं का हल नहीं मिलता। पूँजीवादी पश्चिम, जो कि उन्नीसवीं सदी में इतनी तेजी से चमक रहा था, अब अपनी शान खो चुका है और अपने ही विरोधों में इतना फँसा हुआ है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। सोवियट मुल्कों में जो नई सभ्यता चलाई जा रही है उसमें कुछ बुराइयां होते हुए भी वह अपनी ओर खींचती है। वह आशा दिलाती है कि वह दुनिया में अमन तो कायम कर देगी, साथ ही उसमें यह भी उम्मीद दिखाई देती है कि लाखों के शोषण और दुःख का खात्मा हो जायगा। शायद हिन्दुस्तान इस नई सभ्यता को ज्यादा-से-ज्यादा अपनाकर इस आध्यात्मिक हलचल का हल निकाले; लेकिन जब वह ऐसा करेगा तो सारे ढांचे को अपने आदमियों की योग्यता से मेल बैठाकर अपने ही तरीके से करेगा।

सन् १९३६।

: ४ :

आजादी के लिए हिन्दुस्तान की हलचल

हिन्दुस्तान की हालत पर कुछ लिखना आसान नहीं है। विदेशों में पक्षपातपूर्ण और इकतरफा प्रचार इतने दिनों से होता आरहा है कि हरेक अहम मसला गड़-बड़ होगया है और उससे हिन्दुस्तान की स्थिति का एकदम झूठा अन्दाज होता है। हिन्दुस्तान में पिछले तीन-चार बरसों से आर्डिनेंस का राज्य है, जिसका कुछ कानूनी तरीकों में फौजी कानून से निकट-सम्बन्ध है। अखबारों के ऊपर कड़ी निगाह रखकर न सिर्फ लोगों को अपने खयालात जाहिर करने से ही रोका गया है, बल्कि वे खबरें भी दबा दी जाती हैं जो हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार को नागवार लगती हैं। अखबारों के हाथ-पैर बांध दिए गए हैं, राजनीतिक मसलों पर सार्वजनिक सभायें करने की इजाजत नहीं है, किताबें और बुलेटिन तक जो सच बातें देते हैं, उनपर रोक लगादी गई है, चिट्ठियों और तारों की निगरानी होती है और कभी-कभी तो वे पते पर पहुँचते भी नहीं हैं! मुल्क के बहुत-से हिस्सों में उन आदमियों के नाम या फोटोग्राफ छापना, जो आर्डिनेंस के मातहत गिरफ्तार किये गए हैं, जुर्म है। कुछ महीने पहले पण्डित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु की स्मारक-सभा रोक दी गई थी। हालाँकि उसे बुलानेवाले ज्यादातर गैर-कांग्रेसी थे और सर तेजबहादुर सप्रू जैसे शान्ति-प्रिय नरम आदमी उसके सभापति होनेवाले थे। बंगाल के कुछ हिस्सों में और सरहदी सूबे में फौजी शासन है। चटगांव और मिदनापुर में बेचारे छोटे बच्चों तक को शनाख्तगी का कार्ड अपने साथ ले जाना पड़ता है। लोगों की हलचल पर सख्ती से निगाह रखी जाती है और लोगों को कपड़े अक्सर सरकारी आदमियों के कहने के मुताबिक पहनने पड़ते हैं और तमाम कस्बों और गांवों पर भारी जुर्माने किये जाते हैं,

जिन्हें वहाँ के बाशिन्दों को अदा करना पड़ता है, चाहे कसूर हो या न हो।

अंग्रेज अखबार तरह-तरह की बातें लेकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर हमला करते हैं। उनके वक्तव्यों में असंगति साफ दिखाई देती है, पर इसका उन्हें खयाल नहीं है। एक तरफ कांग्रेस को प्रतिगामी संस्था कहकर उस पर मिल-मालिकों का कब्जा बतलाया जाता है, दूसरी तरफ लगान-बन्दी को बोलशेविकों का काम कहा जाता है। यह कहकर वे शान्ति-प्रिय किसानों को अपनी चालाकी से भड़काते हैं। ऐसे अखबार तक जो सब बातें सच-सच जानते हैं एकदम ऐसी झूठी खबरें फैलाते हैं जिनका घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कुछ समय पहले, अंग्रेजी के सर्वोत्कृष्ट साप्ताहिकों में से एक ने लिखा था कि अस्पृश्यता-निवारण और हरिजन-उद्धार का आन्दोलन पिछले साल गांधीजी के उपवास से चलता था और कांग्रेस ने इन वर्गों के लिए अपने द्वार बन्द कर दिये हैं। असलियत यह है कि यह आन्दोलन पुराना है और सन् १९२० में गांधीजी के कहने पर कांग्रेस ने इसे अपने प्रोग्राम का एक बड़ा हिस्सा बनाया था। तबसे यह हिन्दुस्तान के सबसे बड़े आन्दोलनों में से एक रहा है। कांग्रेस ने कभी हरिजनों को बाहर नहीं किया है, और पिछले तेरह बरसों से उसने बराबर जोर दिया है कि ऊंची-से-ऊंची कार्य-कारिणियों में हरिजनों के प्रतिनिधियों का चुनाव होना चाहिए। यह जरूरी है कि गांधीजी के उपवास ने इस आन्दोलन को बहुत आगे बढ़ाया है।

हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देश आम तौर से रहस्यमय समझे जाते रहे हैं और कहा जाता है कि उनमें जातियां विचित्र तरीकों से काम करती हैं, पर उन्हें समझने की कभी सच्ची कोशिश नहीं की गई। यह इतिहास और भूगोल का जादूभरा विचार शायद किसी औसत कंजरवेटिव या लिबरल राजनीतिज्ञ के विचित्र और बेबुनियाद विचारों से मेल खाता हो, जिसके पास और कोई ऐसी दृष्टि ही नहीं है जिसका वह सहारा ले सके। लेकिन मजदूर तो इतिहास और चालू घटनाओं की वैज्ञानिक और आर्थिक व्याख्या में विश्वास करता है, और यह अचरज की बात है कि

अँग्रेज-मजदूर भी उसी भ्रम में रहे हैं। शायद साम्राज्यवादी शासन के पीढ़ियों तक रहने से ब्रिटिश-मजदूरों के विचारों पर असर पड़ गया है और उनके लिए यह भी मुमकिन नहीं रहा कि जहाँ पर ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के हित हैं वहाँ पर ठीक और वास्तविक रूप में निष्पक्ष गौर कर सकें। हमें मजदूर नेताओं ने बतलाया है कि राष्ट्रवाद तो संकुचित मत होता है और इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद भी प्रतिगामी है इसी सिद्धान्त की आड़ में वे ब्रिटिश-साम्राज्य को सुरक्षित रखना चाहते हैं और उसे ब्रिटिश राष्ट्रों के पंचायती राज्य के ऊँचे नाम से पुकारते हैं। आजकल की दुनिया में राष्ट्रवाद, चाहे वह इंग्लैंड में हो या हिन्दुस्तान में, प्रतिगामी है; लेकिन औपनिवेशिक मुल्कों में साम्राज्यवाद की वह अनिवार्य प्रतिक्रिया है जिससे वास्तविक अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर बढ़ने में बचा नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद को बचाने के लिए औपनिवेशिक राष्ट्रवाद को प्रतिगामी कहना एकदम कायरता है।

यह सभी जानते हैं कि बड़े आन्दोलन व्यक्तियों या थोड़े से आन्दोलन-कारियों द्वारा शुरू नहीं किये जाते, बल्कि उनके कारण खास तौर से आर्थिक होते हैं। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन इसी तरह शुरू हुआ और शुरू के दिनों में उस पर उच्च मध्य वर्ग का कब्जा था। लाजिमी तौर पर वह साम्राज्यवाद का विरोधी नहीं था, क्योंकि वह वर्ग अँग्रेजी राज्य का पैदा किया हुआ था और चाहता था कि साम्राज्यवाद के रेशों में खुद गुँथ जाय। लेकिन आर्थिक घटनाओं के चक्र ने उसमें तब्दीली पैदा की और उस पर कब्जा निम्न मध्यवर्ग का और वर्गरहित बुद्धिवादियों का होने लगा। महायुद्ध के बाद राष्ट्रवाद की लहर में, जिसने तमाम एशिया को हिला दिया, हिन्दुस्तान ने एक खास हिस्सा लिया। एक बड़े राष्ट्रवादी नेता ने लोगों को जगाया और पहली बार सर्वसाधारण और खास तौर से किसानों ने राष्ट्रीय लड़ाई में बड़ा हिस्सा लिया। लड़ाई के बाद के बरसों में कांग्रेस के साथ सर्वसाधारण का सम्बन्ध बढ़ता ही गया और कुछ प्रान्तों में किसानों ने नीति-निर्माण में और सरकार के खिलाफ प्रत्यक्ष

विरोध में भाग लिया। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम था। औद्योगिक कार्य-कर्त्ताओं ने, खासतौर से बम्बई में, मजदूर-आन्दोलन खड़ा कर दिया और आगे बढ़कर उन्होंने क्रांतिकारी विचार बना लिये। एक संगठित दल की हैसियत से उन्होंने काँग्रेस को सहयोग नहीं दिया; लेकिन काँग्रेस का उस पर बहुत असर पड़ा। बहुतों ने काँग्रेस की लड़ाई में हिस्सा लिया। साथ-ही-साथ भारतीय मजदूर हड़तालों के जरिये पूंजीवादियों के खिलाफ अपनी लड़ाई चलाते रहे।

ज्यों-ज्यों काँग्रेस स्वतंत्र विचार की होती गई और जन-साधारण की मदद उसे मिल गई, त्यों-त्यों भारतीय स्थापित स्वार्थ, जो उसमें अपना स्थान रखते थे, भयभीत होते गये और उसमें से बाहर भी निकल गये। जो बचे, उन्हीं में से एक छोटा-सा मामूली नरम या उदारदल कायम हुआ। जन-साधारण के सम्पर्क में आने से आर्थिक मसले काँग्रेस के सामने आये और समाजवादी विचार-धारा फैलने लगी। समय-समय पर बहुत-से गोल-मोल समाजवादी प्रस्ताव पास हुए। सन् १९३१ में काँग्रेस ने कराची में, आर्थिक कार्यक्रम का प्रस्ताव पास करके, एक निश्चित कदम बढ़ाया। पिछले चार बरसों में काँग्रेस की प्रत्यक्ष लड़ाई और मौजूदा जमाने में दुनिया में मंदी और आर्थिक घटनाओं का तेजी से आगे बढ़ना इन सब ने काँग्रेस को मजबूती से समाजवादी दिशा में मोड़ा है और आजादी की लड़ाई का अर्थ ज्यादा-से-ज्यादा समाज-व्यवस्था में तब्दीली करना और जन-साधारण के दुःख दूर करना हो गया है। अभी हाल ही के एक पत्र में गाँधीजी ने लिखा था असली आजादी का मतलब हिंदुस्तान से स्थापित स्वार्थों को मिटा देना है। काँग्रेस अब भी एक राष्ट्रीय संगठन है और इस कारण उसके अन्दर वे सब दल और वर्ग भी आ जाते हैं जिनके सामाजिक हित आपस में टकराते हैं। लेकिन हाल की घटनाओं ने आर्थिक सवाल को बहुत अहम बना दिया है। नतीजा यह हुआ है कि काँग्रेस और भी जन-साधारण का संगठन हो गई है और उसके खिलाफ भारतीय स्थापित स्वार्थों, देशी नरेशों, जमींदार, ताल्लुकेदार

पूंजीपति आदि सब—हिंदुस्तान के ब्रिटिश स्थापित स्वार्थों से तमाम राजनीतिक और सामाजिक तब्दीलियों को रोकने के लिए मिल गये हैं। लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस स्थापित स्वार्थों की ऐसी ही दलबन्दी थी। इस तरह हमारी आजादी की लड़ाई लाजिमी तौर पर सामाजिक स्वतन्त्रता की लड़ाई भी होती जा रही है।

'आजादी' शब्द अच्छा शब्द नहीं है। उसका मतलब है तनहाई। और मौजूदा दुनिया में ऐसी तनहाई आजादी नहीं हो सकती। लेकिन इस शब्द का इस्तैमाल इसलिए किया गया है कि उससे अच्छा और दूसरा कोई शब्द नहीं है। इस शब्द से यह मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि हम बाकी दुनिया से अपने को अलग कर लेना चाहते हैं। हम एक संकीर्ण और हमलेवर राष्ट्रवाद में यकीन नहीं करते। हम तो आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होना चाहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग चाहते हैं; लेकिन साथ ही हमें यकीन है कि साम्राज्यवाद पर कोई निर्भरता या उसके साथ सच्चा सहयोग नहीं हो सकता। इस तरह हम हर तरह के साम्राज्यवाद से एकदम आजादी चाहते हैं। लेकिन इससे उन अंग्रेजों तथा दूसरे आदमियों के साथ का हमारा सहयोग खत्म नहीं हो जाता, जो हमारा शोषण नहीं करना चाहते। साम्राज्यवाद के साथ किसी भी हालत में समझौता न हो सकता है और न होगा।

इसलिए जरूरी तौर पर हमारी आजादी की लड़ाई सामाजिक व्यवस्था को जड़ से बदल डालने और जन-साधारण के शोषण का खात्मा कर देने के लिए है। ऐसा तभी हो सकता है जब हिन्दुस्तान के स्थापित स्वार्थों का खात्मा कर दिया जाय। सिर्फ अफसरों को बदलने से या महज भारतीयकरण से, जैसा कि उसे कहा जाता है, या ऊंचे ओहदे पर अंग्रेज की जगह किसी हिन्दुस्तानी को रख देने से हमें कोई फायदा नहीं है। हम तो उस पद्धति की मुखालिफत करते हैं जो हिन्दुस्तान के आम लोगों का खून चूसती है। उसके यहां से विदा हो जाने पर ही आम लोगों को आराम मिलेगा।

लन्दन की गोलमेज कान्फ्रेंस तो बिलकुल दूसरी ही बुनियाद पर चली है। उसका पूरा मतलब करीब-करीब यह रहा कि हरेक स्थापित स्वार्थ को वह बचावे और ऐसा बना दे कि कोई उन्हें नुकसान न पहुँचा सके।' इस 'जी हुजूरों' की भीड़ को वह बढ़ाना चाहती है। इस तरह गोलमेज की तमाम योजना आम लोगों के शोषण को कम करने के बजाय उनपर और नया बोझ लाद देती है। भारत-मंत्री हमें बताते हैं कि वैधानिक तब्दीलियां होने से लाखों का खर्च बढ़ जायगा। इसलिए जबतक दुनिया की मौजूदा आर्थिक मंदी दूर नहीं होती और हिन्दुस्तान खुशहाल नहीं होता तबतक इन्तजार किया जाना चाहिए। मंत्री महोदय अगर इस बेजारी को अपनी ही तरह से दूर करना चाहते हैं तो उन्हें बहुत दिनों तक इन्तजार करना पड़ेगा। उनके वक्तव्य से पता चलता है कि जो कुछ दुनिया में हो रहा है और आगे होनेवाला है, उनको उन्होंने बिलकुल नहीं समझा है। यह 'व्हाइट हाल' और 'इण्डिया आफिस' के प्रभुओं की दलील की अजीबोगरीब मिसाल है।

हिन्दुस्तान विद्रोह की हालत में है; क्योंकि मजदूर, किसान और निम्न मध्यश्रेणियों का शोषण करके चूसा जा रहा है। उन्हें तुरन्त सहायता चाहिए। उन्हें तो अपने भूखे पेट को भरने के लिए रोटी की दरकार है। बहुत-से जमींदार तक भिखारी की हालत में हो गये हैं; क्योंकि जमीन की जमाबन्दी का तरीका खत्म होता जा रहा है। इस सर्वनाश और चारों तरफ फैली मुसीबत से छुटकारा पाने का उपाय यह निकाला जा रहा है कि स्थापित स्वार्थों की मदद की जाय, जिसकी वजह से कि यह सब हुआ है, और एक अर्धसामन्त-प्रथा को मजबूत करने की कोशिश की जा रही है, जिसकी उपयोगिता कभी की खत्म हो चुकी है और तरक्की के रास्ते में एक रोड़ा है। इनके अलावा जनता पर और बोझ लादा गया है और तब हमसे कहा जाता है कि जब स्थिति अपने आप ही ठीक हो जायगी, तब तब्दीलियां करने का वक्त आयगा।

यह साफ है कि इस तरीके से काम करना मानव-जाति के बहुत-

से प्राणियों से सम्बन्ध रखनेवाले एक बड़े मसले को टाल-मटोल करना है। गोलमेज की योजना, चाहे ब्रिटिश पार्लमेन्ट उसे उसी रूप में रखे या अदल-बदल करके मंजूर कर ले, हिन्दुस्तान की एक भी समस्या को नहीं सुलझा सकती। चर्चिल-लायड-ग्रुप ने जो इसका विरोध किया है और मि० बाल्डविन ने बहादुरी के साथ जो उसकी तरफ़दारी की है, उसके बारे में इंग्लैण्ड में बड़े तूल-तवील बाँधे गये हैं। जहांतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है, इन सब मजाकिया लड़ाइयों में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है; क्योंकि इन लड़ाइयों का नतीजा कुछ भी हो, उससे उस योजना के बारे में जो एकदम प्रतिगामी, निकम्मी और अव्यावहारिक है, उसका मत नहीं बदल सकता। ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान के अपने पिछलग्गुओं, जमींदारों और प्रतिगामी दलों को, जिनमें कट्टर धार्मिक अज्ञानी भी शामिल हैं और जिन्हें गांधीजी ने उनके मोर्चे पर हमला करके भयभीत कर दिया है, लेकर दलबन्दी कर सकती हैं। इन जुदा-जुदा दलों को साथ लेने से सरकार को अगर मजा आता है, तो हमें कोई शिकायत नहीं है। उससे तो हमारी सामाजिक तब्दीली करने और साथ ही राजनीतिक तब्दीली करने का काम और आसान हो जाता है।

इस तरह जहाँतक कांग्रेस का सम्बन्ध है गोलमेज कांफ्रेंस और जाइण्ट सिलेक्ट कमेटी ने हमारी आजादी की लड़ाई पर कोई असर नहीं डाला। उलटा उसने उन मसलों को साफ़ कर दिया है और जाहिर कर दिया है कि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद उन्हीं सबका पोषक है जो हिन्दुस्तान के लिए प्रतिक्रियात्मक हैं। ऐसी हालतों में आजादी की लड़ाई और सामाजिक तब्दीलियां होती ही जायंगी। असल में यह किसी एक आदमी या दल के बस की बात है भी नहीं कि इस लड़ाई को रोक दे। कांग्रेस भी ऐसा नहीं कर सकती; क्योंकि यह आजादी की लड़ाई आर्थिक स्थितियों से कुदरतन पैदा हुई है और जब तक ये स्थितियां रहेंगी तबतक लड़ाई का रास्ता भी बना रहेगा। अगर कांग्रेस के नेता हट जाते हैं तो दूसरे

आदमी या संगठन उनकी जगह ले लेंगे।

लड़ाई का राजनीतिक हल तभी मिल सकता है जब हिन्दुस्तानी अपने विधान को आम जनता में से चुनी हुई विधान-सभा (राष्ट्रीय पंचायत) में तय करें। ऐसी सभा, मुझे सन्देह नहीं, अल्पसंख्यक तथा दूसरी समस्याओं को भी सुलझा देगी। ये समस्यायें अहम बन गई हैं; क्योंकि उन्हें हल करने का काम उन्हीं के चुने हुए आदमियों के हाथ में न सौंपकर सरकार के चुने हुए आदमियों के हाथ में सौंप दिया गया है। यही प्रतिक्रियावादी मनोनीत व्यक्ति हैं जो आपस में एकमत नहीं हुए और दिखाया यह गया कि हिन्दुस्तानी आपस में राजी नहीं हो सकते। हिन्दुस्तानियों को कभी असली मौका दिया भी गया है कि वे अपनी समस्याओं को अपने-आप सुलझा लें ? जहांतक कांग्रेस का सम्बन्ध है, उसे ज्यादा मुश्किल नहीं है, क्योंकि उसने तो बहुत दिनों से अल्प-संख्यकों को अधिकार देने के लिए अपने को तैयार कर लिया है।

कांग्रेस अपने लिए कोई ताकत नहीं चाहती। मुझे यकीन है कि वह राष्ट्रीय पंचायत के फैसले को खुशी से मानेगी और जिस घड़ी राजनीतिक आजादी मिल जायगी, वह अपने को खत्म कर देगी। लेकिन मौजूदा हालतों में या निकट-भविष्य में ऐसी राष्ट्रीय पञ्चायत बुलाई भी जा सकेगी, इसमें सन्देह है।

जितनी इसमें देर की जायगी, उतनी ज्यादा हिन्दुस्तान की राज-नीतिक समस्या आर्थिक समस्या बनती जायगी और आखिरकार सामाजिक और राजनीतिक तब्दीली होकर रहेगी। हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई जरूरी तौर पर दुनिया की लड़ाई का हिस्सा है जो हर जगह शोषितों के छुटकारे के लिए और एक नई सामाजिक-संस्था स्थापित करने के लिए चल रही है।

अक्तूबर १९३३।

: ६ :

राष्ट्रीय पंचायत और साम्प्रदायिकता

मैंने सलाह दी थी कि राजनीतिक और साम्प्रदायिक दोनों समस्यायें विधान-सभा यानी राष्ट्रीय-पंचायत के द्वारा सुलझाई जानी चाहिए। इस बात को काफी पसन्द किया गया। गांधीजी ने इसकी प्रशंसा की। और दूसरे बहुतों ने भी की है, फिर भी कुछ लोगों ने इसे गलत समझा है या समझने की तकलीफ ही गवारा नहीं की है।

अगर इसे स्वीकार किया जाय, जैसा कि होना चाहिए, कि राजनीतिक और राष्ट्रीय रूप से हिन्दुस्तानी ही अपने भाग्य के एक-मात्र निर्णायक हों और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हें पूरी आजादी हो, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राष्ट्रीय-पंचायत द्वारा ही हो सकता है, जिसका निर्वाचन अधिक-से-अधिक मताधिकार पर हो। जो आजादी में विश्वास करते हैं, उनके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। जो लोग साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य की बात करते हैं, वे भी इस बात से सहमत होंगे कि निर्णय हिन्दुस्तानियों को ही करना होगा। यह निर्णय किस प्रकार किया जायगा? नेताओं के दल या व्यक्तियों द्वारा नहीं और न उन आत्म-निर्वाचित संस्थाओं द्वारा जिन्हें 'आल-पार्टीज कान्फ्रेंस' कहते हैं और जो अगर किसी का प्रतिनिधित्व करती हैं तो छोटे स्वार्थी दलों का करती हैं और अधिकांश जन-संख्या को छोड़ देती हैं। हमें यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रीय कांग्रेस इतनी शक्तिशाली और अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व करनेवाली होते हुए भी वह यह निर्णय नहीं कर सकती। कांग्रेस को आजादी है कि वह आदमियों के सहयोग से राष्ट्रीय-पंचायत पर अपना प्रभाव डाले और उस पर काबू रखे, लेकिन अन्तिम राजनीतिक निर्णय हिन्दुस्तान के

आदमी ही जन-मत से निर्वाचित राष्ट्रीय पंचायत द्वारा ही करेंगे।

इस पंचायत का उन झूठी और बेजान कौंसिलों और सभाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, जिन्हें विदेशी शासन ने हम पर लाद दिया है। उसे अपनी शक्ति जनता से ही प्राप्त करनी होगी। उन पर कोई बाहरी दबाव नहीं होगा। मैंने सलाह दी है कि इस पंचायत का निर्वाचन वयस्क या निकट-वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए। निर्वाचन की पद्धति क्या होगी, यह बाद में विचार करके तय कर लिया जायगा। निजी तौर पर यथासम्भव चुनाव की क्रियाशील पद्धति को चलाना पसन्द करता हूँ; क्योंकि वास्तविक हितों का वह कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती है। भौगोलिक पद्धति अक्सर इन हितों को ढक लेती है और उसमें गड़बड़ डाल देती है। लेकिन इनमें से किसी भी पद्धति को या दोनों को संयुक्त रूप में स्वीकार कर लेने के लिए मैं तैयार हूँ। राष्ट्रीय पंचायत के चुनाव और काम करने में एक कठिनाई को छोड़कर, जो महत्त्वपूर्ण है, मुझे और कठिनाई नहीं दिखाई देती। पंचायत का काम विधान बनाने तक ही सीमित होगा और तब उस नये विधान के आधार पर चुनाव होगा।

जिस एक कठिनाई के बारे में मैंने ऊपर कहा है वह बाहरी सत्ता यानी ब्रिटिश सरकार की मौजूदगी और शासन है। यह स्पष्ट है कि जब-तक यह शासन चलता है, तबतक कोई असली विधान-सभा या राष्ट्रीय पंचायत नहीं बन सकती और न काम ही कर सकती है। इसलिए जरूरत पहले इस बात की है कि राष्ट्र की ताकत काफी बढ़े जिससे हिन्दुस्तान के आदमियों की इच्छा पूरी हो सके। दो विरोधी इच्छायें एक साथ नहीं चल सकतीं। उन दोनों में संघर्ष होगा और शासन के लिए लड़ाई होगी, जैसा कि आज हम हिन्दुस्तान में देखते हैं। लाजिमी तौर पर यह लड़ाई हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के स्वार्थों को कायम रखने के लिए है और व्हाइट पेपर उन्हीं को स्थायी बनाने की कोशिश है। कोई भी राष्ट्रीय पंचायत इन जंजीरों से नहीं जकड़ी जा सकती और जबतक राष्ट्र इन जंजीरों को तोड़ने के लिए काफी ताकत पैदा नहीं कर लेता तबतक ऐसी सभा काम

नहीं कर सकती।

यह पंचायत साम्प्रदायिक समस्या को भी हाथ में लेगी और मैंने सलाह दी है अल्प-मत के दिमाग से शक दूर करने के लिए अगर वह चाहे तो अपने प्रतिनिधियों का चुनाव पृथक् निर्वाचक-समूह द्वारा कर सकती है लेकिन यह पृथक् चुनाव केवल विधान-सभा के लिए होगा। आगामी चुनाव का तरीका तथा विधान से सम्बन्ध रखनेवाली और सब बातें यही सभा अपने आप तय करेगी।

मैंने यह भी कहा है कि अगर इस विधान-सभा के निर्वाचित मुसलमान प्रतिनिधि कुछ साम्प्रदायिक मांगें पेश करते हैं तो उन्हें स्वीकार कर लेने पर मैं जोर दूँगा। साम्प्रदायिकता को मैं बुरा समझता हूँ, लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि दमन से वह नहीं मिट सकती, बल्कि डर की भावना को दूर करने या हितों को जुदा कर देने से मिट सकती है इसलिए हमें इस डर को दूर करना चाहिए और मुसलिम जनता को यह महसूस करा देना चाहिए कि जो रक्षा वे वास्तव में चाहते हैं वह उन्हें मिल सकती है। यह बात महसूस कराने से, मैं समझता हूँ, कि साम्प्रदायिकता की भावना बहुत-कुछ कम हो जायगी।

लेकिन मुझे पक्का यकीन हो गया है कि असली उपाय यह है कि साम्प्रदायिक सवाल के चारों ओर और आज की असलियतों तक जो बनावटीपन पैदा हो गया और फैल गया है, उससे हितों को अलग किया जाय। आजकल की अधिकांश साम्प्रदायिकता राजनीतिक प्रतिक्रिया है और इसलिए हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक नेता अनिवार्यतः राजनीतिक और आर्थिक मामलों में प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। उच्चवर्गीय आदमियों के ग्रुप यह दिखाकर कि वे धार्मिक अल्प-मत या बहुमत की साम्प्रदायिक माँगों को पूरा कराना चाहते हैं, अपने वर्ग के स्वार्थों को ढक लेते हैं। हिन्दुओं, मुसलमानों या दूसरे लोगों की तरफ से पेश की गई साम्प्रदायिक माँगों को अगर अच्छी तरह से देखा जाय तो पता चलेगा कि जनता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा माँगें कुछ बेकार दिमागी

आदमियों के लिए नौकरियों के बारे में होती हैं; लेकिन यह स्पष्ट है कि बेकार मध्यवर्गीय दिमागी आदमियों की भी समस्या राज्य की नौकरियों के फिर से बटवारे से पूरी नहीं हो सकती। मध्यवर्ग के बेकार आदमी इतने होते हैं कि राज्य में या दूसरी नौकरियों में वे सब-के-सब नहीं खप सकते और उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही है। जहाँ तक जनता का या उसकी जरूरतों का सवाल है, वहाँ तक साम्प्रदायिक संगठनों द्वारा रखी गई माँगों का कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पष्ट रूप से सम्प्रदायवादी उन्हें ध्यान देने लायक नहीं समझते! इन साम्प्रदायिक युक्तियों में दुखी किसानों, उनके लगान और मालगुजारी या उन्हें कुचलने वाले कर्ज के बोझ के बारे में क्या है? और क्या है उनमें फैक्टरी, रेलवे, या दूसरे मजदूरों के बारे में जिनके वेतन लगातार कम हो रहे हैं और उनके रहन-सहन का दर्जा एकदम नीचा गिर गया है? या उन निम्न मध्य वर्गों के बारे में, जिन्हें बेकारी की वजह से जिन्दगी दूभर हो रही है? कौंसिलों में सीटों और पृथक या संयुक्त निर्वाचनों और प्रान्तों को अलहदा करने पर बड़ी गरमागरम बहस होती है! कितनों पर यह बातें असर डालती हैं या कितनों को उनमें दिलचस्पी है? क्या एक भूखा आदमी, जिसके पेट को भूख कचोटती है, इसमें दिलचस्पी ले सकता है? लेकिन हमारे साम्प्रदायिक दोस्त इन असली मसलों को उड़ाने का अच्छी तरह से ध्यान रखते हैं; क्योंकि उनके हल से हो सकता है उनके स्वार्थों पर ही उलटा असर पड़े। और वे लोगों का ध्यान बिलकुल अवास्तविक और जनता के दृष्टिकोण से छोटी-छोटी बातों की ओर लगाते हैं।

साम्प्रदायिकता जरूरी तौर पर तीसरी ताकत, शासक-सत्ता, की कृपा पाने की कोशिश है। सम्प्रदायवादी तो विदेशी शासन के चालू रहने की परिभाषा में ही सोच सकते हैं और उससे अपने ही ग्रुप को ज्यादा-से-ज्यादा फायदा पहुँचाने की कोशिश करते हैं। अगर विदेशी सत्ता को हटा दिया जाय तो साम्प्रदायिक बहस और मांगें सब खत्म हो जायंगी। विदेशी सत्ता और सम्प्रदायवादी दोनों ही उच्चवर्गीय दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए राजनीतिक और आर्थिक विधान

में कोई तब्दीली नहीं चाहते। दोनों ही अपने स्वार्थों को कायम और स्थायी बनाए रखने में दिलचस्पी रखते हैं। इसी की वजह से दोनों असली आर्थिक समस्याओं को, जो आज देश के सामने हैं, हल नहीं करते, क्योंकि उनके हल से मौजूदा सामाजिक विधान बदल जायगा और स्थापित स्वार्थ भी कायम नहीं रहेंगे। दोनों को असली मसलों को दरगुजर करने की शुतुरमुर्ग-जैसी यह नीति आखिर में बर्बाद कर देगी। सरकारों और साम्राज्यों से कहीं ज्यादा ताकतवर असलियतें और आर्थिक शक्तियां होती हैं और अपने खतरे पर ही उन्हें भुलाया जा सकता है।

इस तरह साम्प्रदायिकता राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया का दूसरा नाम हो जाता है। और अंग्रेजी सरकार हिन्दुस्तान में इस प्रतिक्रिया का केन्द्र है, इसलिए कुदरतन वह अपना साया फायदेमन्द मित्र के ऊपर डालती है। असली मसले को गड़बड़ाने के लिए बहुत-से झूठे रास्ते बनाए गये हैं। इस्लामी संस्कृति, और हिन्दू संस्कृति, धर्म और प्राचीन रीति-रिवाज, प्राचीन गौरव तथा ऐसी ही बातें कही जाती हैं। लेकिन इस सबके पीछे राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया है। और इसलिए साम्प्रदायिकता से सब तरफ से लड़ना चाहिए, कोई जगह छोड़नी नहीं चाहिए। क्योंकि साम्प्रदायिकता के अन्दरूनी रूप को अच्छी तरह से महसूस नहीं किया गया, इसलिए अक्सर उसने आडम्बर से काम लिया है और बहुत से अनजान लोगों को फँसा लिया है। निस्सन्देह ठीक है कि बहुत से कांग्रेसी करीब-करीब अनजान में उसके वशीभूत हुए और इस संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी मत से अपने राष्ट्रवाद का मेल बैठाने की उन्होंने कोशिश की। अगर इसके असली रूप को अच्छी तरह से देखा जाय तो पता चलेगा कि दोनों के बीच में कोई सामान्य धरातल नहीं हो सकता। उनकी किस्में भिन्न हैं। वक्त आगया है कि कांग्रेसी और दूसरे आदमी, जो हिन्दू या मुसलमान, सिख या अन्य सम्प्रदायवाद से मजाक करते रहे हैं, इस स्थिति को समझें और अपना रास्ता निकालें। दोनों ही तरह से कोई उसे ग्रहण नहीं कर सकता। राजनीतिक और

सामाजिक उन्नति और खुली प्रतिक्रिया में से किसी एक को पसन्द करना होगा। साम्प्रदायिकता के किसी भी स्वरूप से संबंध रखने का अर्थ होता है, प्रतिक्रिया के साधनों को और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मजबूत करना; उसका अर्थ होता है सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का विरोध और अपने आदमियों के मौजूदा दुःख को बर्दाश्त करना; उसका अर्थ होता है आंख बन्द करके दुनिया की ताकतों और घटनाओं को दरगुजर करना।

साम्प्रदायिक संगठन क्या हैं? वे मजहबी नहीं हैं, हालांकि वे अपने को मजहबी ग्रुपों में ही मानते हैं और मजहब नाम का नाजायज फायदा उठाते हैं। सांस्कृतिक भी वे नहीं हैं। संस्कृति के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया, हालांकि वे बहादुरी के साथ प्राचीन संस्कृति की बात करते हैं। वे नैतिक ग्रुप भी नहीं हैं; क्योंकि उनकी शिक्षा में नैतिकता बिलकुल नहीं है। आर्थिक दलबन्दी भी वह निश्चय ही नहीं है; क्योंकि उनके सदस्यों को बाँधनेवाली कोई आर्थिक कड़ी नहीं है और न आर्थिक कार्य-क्रम की ही छाया उनमें है। उनमें से कुछ तो राजनीतिक होने का दावा भी नहीं करते। तब वे हैं क्या?

असल में राजनीतिक ढंग से वे काम करते हैं और उनकी मांगें भी राजनीतिक हैं; लेकिन जब वे अपने को अ-राजनीतिक कहते हैं तो वे असली मसले को दरगुजर करते हैं और दूसरों के रास्ते को रोकने में ही कामयाब होते हैं। अगर ये राजनीतिक संगठन हैं तो हमें हक है कि यह जानें कि उनका उद्देश्य क्या है। वे हिन्दुस्तान को मुकम्मिल आजादी चाहते हैं या आंशिक आजादी—अगर वैसी भी आजादी कोई चीज है तो? क्या वे आजादी चाहते हैं या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य? अच्छे-से-अच्छे शब्द भी भ्रम पैदा कर देते हैं और बहुत-से आदमी अब भी सोचते हैं कि साम्राज्यन्तर्गत स्वराज्य आजादी के ही बराबर है। असल में वे दोनों बिलकुल भिन्न हैं, विरोधी दिशाओं में जाने वाले वे दो रास्ते हैं। यह आनों का सवाल नहीं है कि चौदह आने हैं या सोलह आने; बल्कि भिन्न

भिन्न सिक्कों-जैसा सवाल है, उनका आपस में विनिमय नहीं हो सकता।

साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य का अर्थ है अंग्रेजों की आर्थिक व्यवस्था के मजबूत ढांचे और स्वार्थों के अन्तर्गत काम किये जाना। साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में इस गला घोंटने वाले अधिकार से कोई छुटकारा नहीं है। आजादी का मतलब है इन बोझों से मुक्त होने की संभावना और अपने सामाजिक विधान को तै करने की आजादी। इसलिए साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य में हमें चाहे जितनी अधिक सीमित आजादी मिल जाय, फिर भी वह इंग्लैंड के बैंक और ब्रिटिश पूँजी के मुख्य अधिकार में होगी। हमारे मौजूदा आर्थिक विधान के चलने पर भी उसे निर्भर होना होगा। इसका अर्थ है कि हम अपनी आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझा सकते और न कुचलने वाले बोझ से जनता को ही मुक्त कर सकते हैं। हम दलदल में और गहरे ही फँस सकते हैं। तब इन साम्प्रदायिक संगठनों का क्या उद्देश्य है—आजादी या साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य?

व्हाइट पेपर में जो मजाकिया विधान दिया गया है, उसका जिक्र करने की हमें जरूरत नहीं है। उससे तो सिर्फ हमें इसी बात की याद दिलाई जाती है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी और स्वार्थों को हर तरह से कायम रखा जायगा, जब तक कि ब्रिटिश सरकार में उन्हें कायम रखने की ताकत है। सिर्फ वही आदमी जिन्हें ब्रिटिश स्वार्थों के कायम रखने की दिलचस्पी है या जो बहुत सीधे-सादे हैं, व्हाइट पेपर या उसके भागों को पसन्द कर सकते हैं।

राजनीतिक ध्येय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक ध्येय है। यह बात चारों तरफ फैली है कि राजनीति का युग गया और हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें अर्थशास्त्र राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर शासन करता है। साम्प्रदायिक संगठन इन आर्थिक मामलों के बारे में क्या चाहते हैं? या उन्हें जनता या निम्न मध्यम वर्गों की भूख और बेकारी का कोई पता ही नहीं है? अगर वे जनता के प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं, तो उन्हें जानना चाहिए कि इन अभागे और दुखी लोगों के सामने सबसे

बड़ी समस्या भूख की है और इस समस्या का हल, कम-से-कम उसूली ही, मिल जाना चाहिए। व्यवसाय और खेती में इन संगठनों के विचार से क्या होना चाहिए? मजदूरों और किसानों के दुःखों को दूर करने का वे क्या उपाय निकालते हैं? जमीन के क्या कानून होने चाहिए? किसानों के कर्जे का क्या होगा; क्या उसका शोध होगा या सिर्फ उसकी आवाज को दबा दिया जायगा, या वह बाकी रहेगा? और बेकारी के बारे में क्या? क्या वे समाज की मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में विश्वास रखते हैं, या नई व्यवस्था कायम करना चाहते हैं? ये कुछ अजीब सवाल हैं जो उठते हैं और उनका और ऐसे ही दूसरे सवालों का जवाब हमें साम्प्रदायवादियों की मांगों के दावे और आन्तरिकता को समझने में मदद देगा। अगर ये जवाब जनता तक पहुँच सकें तो उसे भी बड़ी मदद मिलेगी। हिन्दू जनता की बनिस्बत शायद मुस्लिम जनता तो और भी गरीब है; लेकिन मशहूर 'चौदह बातें' इन गरीबी के मारे मुसलमानों के बारे में कुछ नहीं कहतीं। हिन्दू सम्प्रदायवादी भी अपने स्वार्थों के कायम रखने पर जोर देते हैं और जनता की परवा नहीं करते।

मुझे डर है कि इन सवालों का स्पष्ट या शायद कोई भी उत्तर मुझे नहीं मिलेगा; क्योंकि प्रश्न असुविधाजनक हैं; कुछ तो शायद इसलिए भी कि सम्प्रदायवादी नेता आर्थिक बातों के बारे में बहुत कम जानते हैं और उन्होंने जनता की परिभाषा में कभी नहीं सोचा है। वे तो 'फी सदी' के बारे में ही सोचने में उस्ताद हैं और उनकी लड़ाई का मैदान उनकी सभा का कमरा है, खेत, फैक्टरी या बाजार नहीं। लेकिन चाहे वे पसन्द करें या न करें, ये सवाल तो आगे आयँगे ही और जो इनका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकेंगे उनको सार्वजनिक मामलों में स्थान नहीं मिलेगा। इन सब सवालों का जवाब हम एक व्यापक शब्द में दे सकते हैं। वह शब्द हैं—समाजवाद और समाज का समाजवादी विधान।

लेकिन ठीक जवाब सोशलिज्म या कम्युनिज्म हो या और कोई हो, एक बात निश्चित है—वह यह कि जवाब अर्थशास्त्र की परिभाषा में हो,

केवल राजनीति की परिभाषा में नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान और दुनिया आर्थिक समस्याओं से परेशान है और उनसे बचा नहीं जा सकता। जबतक पूरी आर्थिक आजादी न मिलेगी, तबतक राजनीतिक विधान चाहे जैसा हो, हमें आजादी नहीं मिल सकती। आर्थिक आजादी में राजनीतिक आजादी भी शामिल है। आज की असलियत यही है। और सब आडम्बर है, भ्रम है, और इसमें भी साम्प्रदायिक आडम्बर से बढ़कर और कोई आडम्बर नहीं है।

अब राष्ट्रीय पंचायत के मामले पर वापस लौट चलें। अगर वास्तविक जनता की चुनी हुई सभा आजादी के साथ असली मामलों पर विचार करने के लिए बोलती है तो तुरन्त ही इन आर्थिक समस्याओं में उसका ध्यान लग जायगा। साम्प्रदायिक समस्या पीछे पड़ जायगी, क्योंकि जनता की दिलचस्पी 'फी सदी' के सवाल से ज्यादा अपने पेट भरने में होगी। यह सभा उन साधनों को मुक्त कर देगी जो अब तक विदेशी शासकों और हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों के कारण दबे पड़े हैं। नेतृत्व जनता के हाथ में जायगा, और जनता जब स्वतन्त्र होगी तो कभी-कभी भूल करने पर भी वह असलियत की परिभाषा में सोचेगी और आडम्बरों से उसके लिए कोई लाभ न होगा। कार्यकर्त्ताओं और किसानों के हाथ में परिस्थिति होगी और उनका निर्णय, कभी-कभी अपूर्ण होने पर भी, हमें आजादी की ओर ले जायगा। मैं नहीं कह सकता कि राष्ट्रीय-पंचायत क्या तय करेगी। लेकिन जनता में मुझे श्रद्धा है और उसके निर्णय को मानने के लिए मैं तैयार हूँ, और मुझे विश्वास है कि जब असली जनमत की बड़ी परीक्षा होगी तब साम्प्रदायिक समस्या खत्म हो जायगी। वह कमरों की गर्मी से पैदा हुई है और सभा के कमरों के वायुमंडल में और तथाकथित 'सर्वदल-सम्मेलनों' में उसका पालन-पोषण हुआ है। उस बनावटी वायुमंडल में उसको नष्ट करने का हल नहीं मिलेगा, बल्कि ताजा हवा और धूप में वह क्षीण होकर नष्ट होगी।

: ६ :

फैडरेशन

मुझे ताज्जुब होता है कि लोग अब भी फैडरेशन की सम्भावना के बारे में बातें करते हैं। फैडरेशन की जोरों से मुखालफत करने वाले तक उस बारे में बात करते हैं; क्योंकि उनका विचार है कि शायद फैडरेशन उन पर लागू कर दिया जाय। मैंने तो बहुत पहले से ही फैडरेशन का रास्ता बन्द कर दिया है—सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं उसे नापसन्द करता और उसे हिन्दुस्तान के लिए नुकसान करने वाला समझता हूँ, बल्कि इस-लिए कि मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मौजूदा हालतों में उसे लागू नहीं किया जाना चाहिए। इस बात को मैं और अच्छी तरह से समझता हूँ। मैं कोई पैगम्बर नहीं हूँ और आज की बदलती हुई दुनिया में या तो कोई बहुत बहादुर या कोई बहुत मूर्ख ही होगा जो कहेगा कि आगे क्या होगा! हिन्दुस्तान में चाहे जो कुछ हो सकता है और यह भी मुमकिन है कि हमारे टुकड़े-टुकड़े हो जायं और फैडरेशन से भी बुरी किसी चीज के आगे झुकना पड़े। यह नामुमकिन नहीं है कि कुछ वक्त के लिए दुनिया भर पर फासिज्म का शासन होजाय और आजादी को कुचल दिया जाय।

फैडरेशन के सवाल पर हमने पूरी तरह से भारतीय राष्ट्रवाद, भारत के स्वतन्त्र होने की इच्छा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष की परिभाषा में विचार किया है। साफ तौर से यह उसका एक खास पहलू है और स्पष्ट है कि यह संघर्ष उसमें छिपा है और अगर फैडरेशन को लागू करने की कोशिश की गई तो वह संघर्ष सामने आ जायगा। फैड-रेशन की योजना की अच्छाई या बुराई पर हमें बहस करने की जरूरत नहीं है। उसके बारे में काफी कहा और लिखा जा चुका है। खास बात तो

यह है कि हिन्दुस्तान उसे एकदम नापसन्द करता है और उसे स्वीकार नहीं करेगा, बस इतना ही हमारे लिए काफी है। लार्ड जेटलैंड और उनके साथी जो कुछ इस बारे में सोचते हैं, उससे हमें कोई मतलब नहीं है।

लेकिन एक और बड़ा पहलू है जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। इन हाल के बरसों में हमने हिन्दुस्तान की समस्या पर उसके दुनिया की समस्या के सम्बन्ध में विचार करने की कोशिश की है। अगर हमने ऐसा नहीं किया होता तो भी घटनायें हमसे और दूसरों से ऐसा करा लेतीं। हरेक आदमी को यह महसूस करना चाहिए कि हम उस अवस्था में पहुंच गये हैं जब कि किसी समस्या के अलहदा राष्ट्रीय हल नहीं निकाले जा सकते; क्योंकि वे दुनिया के असली हल के संघर्ष में आते हैं। हमें दुनिया की परिभाषा में सोचना चाहिए। आज दुनिया सुगठित होकर एक इकाई बन गई है और इस हिस्से की हलचलें दूसरे हिस्सों को बिना छुए नहीं रहतीं। अधिक-से-अधिक लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं; फिर भी हमेशा की तरह असलियत तक हमारे दिमाग नहीं पहुंचते। लोग कहते हैं: शान्ति अखंड है, स्वतन्त्रता भी अविभाज्य है, हिन्दुस्तान को भी बांटा नहीं जा सकता, और आज किसी भी अहम मसले पर दुनिया भी एक है।

इसलिए हमारी आजादी की बात पर हमें दुनिया की और उसके सहयोग की परिभाषा में विचार करना चाहिये। वे दिन गये जब राष्ट्र अलहदा-अलहदा थे। अब तो आपस में सहयोग न होने से दुनिया छिन्न भिन्न होजायगी और अगर लड़ाई मची और राष्ट्रों में लगातार संघर्ष चला तो सब के-सब बरबाद होजायँगे।

आज दुनिया भर के अधिक-से-अधिक सहयोग के बारे में सोचना मुश्किल है; क्योंकि कुछ शक्तियाँ और कुछ ऐसे ताकतवर राष्ट्र हैं जो दूसरी ही नीति चलाने पर कमर कसे हुए हैं। लेकिन यह मुमकिन हो सकता है कि ध्येय ठीक रखा जाय और सहयोग की नींव डाली जाय, शुरू में चाहे वह दुनिया भर का सहयोग न भी हो। दुनिया के बुद्धिमान् और

दूसरे बहुत से लोग इसी बात की राह देख रहे हैं; लेकिन सरकारें, स्थापित स्वार्थ और बहुत से दल इसके रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं।

बीस बरस पसले प्रेसिडेंट विलसन को दुनिया के सहयोग की झलक मिली थी और उन्होंने उसे महसूस करने की कोशिश की थी। लेकिन उस युग की लड़ाइयों की संधियों और राजनीतिज्ञों ने उस विचार को उड़ा दिया और बहुत बड़ी आशा की कब्र पर बने मकबरे की तरह आज जनेवा में राष्ट्र-संघ शोक-पीड़ित खड़ा है। फैडरेशन को तो खत्म होना ही था, क्योंकि वह अच्छे मुहूर्त में शुरू नहीं हुआ था और मृत्यु के बीज उसके अन्दर मौजूद थे। वह तो एक ऐसी चीज को मजबूत बनाने की कोशिश थी जो कि साम्राज्यवादी और शासक राष्ट्रों के विशेष स्वार्थों की रक्षा नहीं कर सकती थी। उसकी शान्ति की पुकार का मतलब था तमाम दुनिया में नामुनासिब हमलों को जारी रखना और उसका प्रजातन्त्र बहुत-से राष्ट्रों को गुलामी में रखने से लिये लबादा था। फैडरेशन को खत्म होना पड़ा; क्योंकि उसमें जिन्दा रहने का काफी साहस नहीं था। उस मुर्दे का अब पुनर्जीवन नहीं हो सकता।

लेकिन उस विचार का पुनर्जीवन हो सकता है जिसके लिए राष्ट्र-संघ बना है। लेकिन उस संकीर्ण, चक्करदार या उलटे तरीके से नहीं जिसने पेरिस और जनेवा में शक्ल अख्तियार की थी; बल्कि स्वार्थ, ज्यादा ताकतवर और ऐसे रूप में जिसका आधार सामूहिक शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रता पर हो और किसी भी बुनियाद पर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

पिछले कुछ बरसों में सामूहिक सुरक्षितता की बड़ी बातें हुई हैं; लेकिन इंग्लैंड और फ्रांस ने सुरक्षितता को खत्म कर दिया और उसके साथ राष्ट्र संघ को खत्म कर दिया। नये-नये खतरों के सामने होने से जिनसे खुद उन्हें अपनी जिन्दगी का डर है, इंग्लैंड और फ्रांस लड़ाई होने के डर से, अपने साथी ढूँढने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन अब वे शान्ति के लिए सामूहिक-सुरक्षितता की परिभाषा में नहीं सोचते।

बहुत-से कारणों से यह सामूहिक सुरक्षितता का विचार नाकामयाब रहा। नाकामयाबी की एक खास वजह यह थी कि उसने साम्राज्यवाद का साथ दिया। सामूहिक सुरक्षितता का तो निकट-सम्बन्ध प्रजातन्त्र और आजादी से है और ऐसी दुनिया जहाँ प्रजातन्त्र और आजादी सिर्फ एक सीमित हिस्से में है उसका नाकामयाब होना निश्चित है। इस तरह असली कठिनाई जैसा कि मि० ल्यूनार्ड वार्न ने अपनी हाल ही की किताब में बताया है, रह जाती है, साम्राज्यवाद का अंत और हिन्दुस्तान की आजादी।

बहुत-से आदमी इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि शान्ति और प्रगति के लिए राष्ट्रों के बीच निकटवर्ती सहयोग जरूरी है। अनिश्चित तौर से वे एक दुनियाभर की पंचायत(कॉमनवेल्थ)कायम करने के पीछे पड़ते हैं जो राष्ट्र-संघ से कहीं ज्यादा बड़ी है। कुछ उत्साही अंग्रेज सोचते हैं कि ऐसी पंचायत के लिए ब्रिटिश-साम्राज्य या राष्ट्र पंचायत आधार रूप हैं। वे यह भूल जाते कि ब्रिटिश साम्राज्य का आधार साम्राज्यवाद है और अपने गुलाम देशों का शोषण करना है। साम्राज्य पर निर्भर हिस्से को छोड़कर भी अर्ध-स्वतंत्र औपनिवेशिक राज्य भी साम्राज्य के दायरे से सम्बन्ध तोड़ रहे हैं। कैनेडा आज भी बहुत सी बातों में इङ्गलैंड के बनिस्बत अमेरिका से अधिक सम्बन्धित है। यह सम्भव है कि यह सम्बन्ध राजनीतिक शक्ल अख्तियार कर ले। अगर लड़ाई होनी है तो यह बहुत शुबहतलब बात है कि ब्रिटिश-साम्राज्य अपने इस रूप में जीवित रहेगा।

कुछ लोगों की राय है कि ब्रिटिश-साम्राज्य के राष्ट्र एक-दूसरे के पास आयें और संघीय व्यवस्थापक मंडल बनावें। इसका मतलब या तो यह हो सकता है कि अंग्रेज सब पर राज्य करें या यह कि हिन्दुस्तान में और ब्रिटिश उपनिवेशों में साम्राज्यवाद का परिशोध हो। परिशोध के मामले में हिन्दुस्तान अपने शक्ति-गर्भित साधनों और आदमियों की ताकत से दूसरे हिस्सों पर बहुत असर डालेगा, जिसे ये दूसरे हिस्से शायद पसन्द न करें। किसी भी हालत में हिन्दुस्तान नहीं सोच सकता कि ब्रिटिश साम्राज्य या पञ्चायत रहे। इतिहास और घटनायें ही इस बात

की मुखालफत करते हैं कि ऐसे सीमित दल से हमारा सम्बन्ध हो। आज दक्षिण अफ्रीका में हमारी जैसी हालत है, वहाँ पर हमारे देशवासियों को जैसा नीचा दिखाया जा रहा है, उसे देखते हुए हमें यह कहना कि हम ऐसे समूह के मेंबर बने रहें, हमारी बेइज्जती करना है।

लेकिन दुनिया भर का सहयोग होना जरूर चाहिए और तमाम राष्ट्रों की आजादी पर रोक लगाकर ऐसा कर देना चाहिए जिससे दुनिया भर में व्यवस्था और शान्ति रहे। वह सहयोग ब्रिटिश दल तक ही सीमित नहीं होना चाहिए चाहे वैसा होना मुमकिन ही क्यों न हो। ब्रिटिश दल तक सीमित करना तो उसके उद्देश्य को ही खोना है।

हाल ही में क्लेरेंस स्ट्रीट की पुस्तक 'यूनियन नाउ' निकली है, जिसने बहुत-से लोगों का ध्यान अपनी तरह खींचा है। उसमें इसी समस्या पर विचार किया गया है। मि० स्ट्रीट तथाकथित प्रजातंत्रों की यूनियन की सिफारिश करते हैं। वह कहते हैं कि शुरू-शुरू में १५ मेंबर हों-संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, संयुक्त साम्राज्य (इंग्लैंड) फ्रांस, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैंड, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैंड, बेलजियम, हालैंड, स्वीजरलैंड डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन और फिनलैंड। ये मुल्क एक संघीय यूनियन बनावें जिनकी एक पार्लमेंट हो। सिर्फ एक संघ या संधि ही न रखें। यह विचार जरूर ही ब्रिटिश साम्राज्य के विचार से बढ़कर है; लेकिन इसमें दो खराबियाँ हैं। एक तो यह कि इसमें रूस, चीन, हिन्दुस्तान तथा दूसरे कुछ देश शामिल नहीं हैं; दूसरे साम्राज्यवाद के बारे में उसमें कुछ नहीं कहा गया है। रूस, चीन, हिन्दुस्तान की अलहदी शायद ज्यादा दिन रहे, लेकिन शुरू से ही ऐसा करना ठीक नहीं है। उनमें बहुत-सी खतरनाक सम्भावनाएं हैं। इस यूनियन के बहुत-से देश पहले ही से अर्ध-फासिस्ट और साम्राज्यवादी हैं। हो सकता है कि वे फासिस्ट देशों की तरफ बढ़ें और उनसे समझौता कर लें और रूस की मुखालफत करें और चीन और हिन्दुस्तान की आजादी के आन्दोलनों का भी विरोध करें। किसी भी प्रगतिशील यूनियन के जीवित रहने की तबतक सम्भावना नहीं है जबतक कि रूस

उसमें शामिल न हों।

और न साम्राज्यवाद के खत्म कर देने की बुनियाद के अलावा और किसी बुनियाद पर वास्तविक यूनियन बनाया ही जा सकता है। नहीं तो यूनियन साम्राज्यवादी सत्ताओं का हो जायगा और गुलाम देशों में अपने स्थापित स्वार्थों की रक्षा करने के लिए ही होगा। पर स्वार्थों की रक्षा भी वे नहीं कर सकेंगे; क्योंकि वे आपस में लड़ेंगे। साम्राज्यवाद में से शान्ति पैदा नहीं होती। साम्राज्यवाद तो लड़ाई को ही जन्म देता है।

आज दुनिया भर के यूनियन की जरूरत तो है; पर बदकिस्मती से ऐसा यूनियन बन नहीं सकता; क्योंकि जिनके हाथ में ताकत है वे तो पुरानी दुनिया के, जो खत्म हो चुकी है, भक्त हैं और नई दुनिया की परिभाषा में न सोच सकते हैं, न काम कर सकते हैं। यूनियन तबतक कायम न हो सकेगा जबतक दुनिया लड़ाई से छिन्न-भिन्न न हो जायगी और लाखों की जानें नहीं चली जायँगी। लेकिन यूनियन कायम होगा जरूर; क्योंकि उसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। ऐसे यूनियन का साम्राज्यवाद से कोई रास्ता नहीं होगा, न फासिज्म से। वह तो पूरे जन-तंत्र और आजादी पर कायम होगा। हरेक राष्ट्र को औपनिवेशिक स्वराज्य होगा। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में वे सब यूनियन के व्यवस्थापक-मंडल के अधीन होंगे, जिसमें उनके प्रतिनिधि होंगे। लाजिमी तौर पर उन्हें मौजूदा झगड़ों को खत्म करने के लिए एक आयोजित और समाजवादी अर्थशास्त्र के मातहत काम करना होगा।

ऐसे संघीय यूनियन में हिन्दुस्तान खुशी से भाग लेगा और दुनिया की शान्ति और प्रगति के लिए जो कुछ कर सकता है, करेगा। उसमें शामिल हिन्दुस्तान का अपना फैडरेशन होगा, जो ब्रिटेन द्वारा हम पर थोपे गये अनुचित और अनुपयुक्त फैडरेशन से बहुत भिन्न होगा। इस फैड-रेशन को तो हम स्वीकार नहीं कर सकते।

मैं नहीं सोचता कि यह फैडरेशन ज्यों-का-त्यों या उसमें कुछ तब्दीली करके हिन्दुस्तान पर लागू किया जा सकेगा। लोग उसके बारे में बात

करते हैं, लेकिन उसका विचार तो 'डोडो'[1] की तरह एक दम खत्म हो चुका है। यह मुमकिन है कि लार्ड जेटलैंड और हमारे दूसरे आचार्यों ने इस बात को महसूस न किया हो या महसूस करके उस बात को कहना न चाहते हों, लेकिन फैडरेशन अपनी इस शक्ल और रूप में नहीं लागू किया जा सकता। हिन्दुस्तान बदल गया है और दुनिया भी एकदम बदल गई है। गोलमेज-कान्फ्रेंसों का जमाना भी प्राचीनता के धुंधलेपन में विलीन हो गया है। अगर अंग्रेज अक़्लमन्दी करके अब भी उसे लागू करना चाहते हैं तो उसका मतलब होगा खतरनाक लड़ाई, और आज जो कुछ उनका हिन्दुस्तान में है वह भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। हमारे लिए उसका आखिरी नतीजा चाहे बुरा हो या अच्छा, लेकिन फैडरेशन नहीं होगा।

इसलिए मेरे खयाल में फैडरेशन लागू नहीं किया जा सकता। वह तो अब मुर्दा है और कोई भी जादू का अर्क उसे जिन्दा नहीं कर सकता।

२१ मई १९३९।

---

१ मारीशस की एक चिड़िया जिसका अन्त कभी का हो गया।

: ७ :

साम्प्रदायिक निर्णय

कई मौकों पर अपने भाषणों में मैंने साम्प्रदायिक निर्णय पर चर्चा की है। हिन्दुस्तानी में दी हुई मेरी लम्बी-लम्बी तकरीरों की छोटी रिपोर्टें अंग्रेजी अखबारों में छपी हैं। ये, अनिवार्यतः मैंने जो कुछ कहा था, उसका कुछ-कुछ गलत अन्दाज कराती हैं और उसकी आलोचना कभी-कभी गलत बातों पर निर्भर होती है। यह हमेशा जरूरी है कि मतभेद के मामलों पर विचार स्पष्ट हों, जिससे हममें मतभेद होते हुए भी हम कम-से-कम यह तो साफ तौर से महसूस करें कि मसले आखिर हैं क्या। इसलिए थोड़े-से में मैं साम्प्रदायिक निर्णय पर अपने विचार यहां दिये देता हूँ। ये विचार मैं पहले भी अपने लखनऊ-कांग्रेस के भाषण में जाहिर कर चुका हूँ। मैंने कहा था कि साम्प्रदायिक निर्णय और जन-तंत्र दोनों साथ-साथ कभी भी नहीं चल सकते। इस साम्प्रदायिक निर्णय की बुनियाद ही जन-तंत्र का इन्कार करती है और जरूरी तौर पर वह आजादी के रास्ते में और सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के विचार में एक बड़ी रुकावट होगी। वे समस्यायें असली समस्यायें हैं, जो हिन्दुस्तान में हमारे सामने हैं। मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई भी आदमी, जो स्पष्ट रूप से आजादी या सामाजिक तब्दीली की परिभाषा में सोचता है, इस साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार या पसन्द करेगा। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ और अफसोस भी हुआ है कि हमारे बहुत-से मुसलमान दोस्तों और साथियों ने, जिनका उद्देश्य हिन्दुस्तान की आजादी था, इस घातक निर्णय को इतना पसन्द किया है।

इस निर्णय से मेरे तटस्थ या गैरजिम्मेदार होने का सवाल नहीं है, और न, जहांतक मैं जानता हूँ, कांग्रेस की ऐसी स्थिति ही है।

अहम मामलों में तटस्थ रहने की मेरी आदत नहीं है। साम्प्रदायिक निर्णय की मैं मुखालफत करता हूँ और किसी भी वक्त मैं राजी से उसे स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि उसे स्वीकार करने का मतलब मेरे लिए होगा स्वतन्त्रता, सामाजिक आजादी और जन-तंत्रीय परम्परा को भूल जाना।

इसलिए मेरे सामने सवाल यह है कि इस निर्णय को पसन्द न करूँ या तटस्थ रहूँ। तटस्थ मैं नहीं हूँ और जोरों से मैं उसे नापसन्द करता हूँ। अपने-आप ही उसका मतलब यह होता है कि इस बेहद नामुनासिब चीज से पीछा कैसे छुड़ाया जाय? मुझे भी इसके लिए दो ही रास्ते दिखाई देते हैं। एक रास्ता तो आजादी का है, जब जरूरी तौर पर ऐसी व्यवस्था हो जायगी कि ऐसी चीजों को अलहदा होना पड़ेगा और जन-तंत्रीय तरीके आयेंगे। दूसरा रास्ता यह है कि निर्णय में दिलचस्पी रखने वाले बड़े-बड़े दल आपस में फैसला और समझौता कर लें। इसमें मैं यह भी कहूँगा कि मेरे खयाल में आजादी को उद्देश्य बनाकर चलने वाले और ब्रिटिश-साम्राज्य की छाया में हमेशा रहने की उम्मीद करने वाले इन दो दलों में कोई सच्चा समझौता नहीं हो सकता। उनके विचार जुदा-जुदा हैं और वे अलहदा-अलहदा ध्येय के लिए काम करते हैं।

यह आशा करना कि इस बारे में अंग्रेज हमारी मदद करेंगे, एक असंभव बात की कल्पना करना है। मदद न देने में ही साफ तौर से उनका फायदा है। साम्प्रदायिक नेताओं से भी मदद की उम्मीद करना उतना ही नामुमकिन है। इस तरह एक ही रास्ता रह जाता है। वह यह कि जनता का ध्यान उससे कहीं ज्यादा सम्बन्ध रखने वाली राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की तरफ खींच दिया जाय, जिससे वे साम्प्रदायिक सवाल को उसके असली रूप में देख सकें। साम्प्रदायिक निर्णय पर जोर दिया जाना तो अपने ध्येय को ही खो देना है; क्योंकि उससे आदमियों को दूसरे मसलों पर विचार करने का मौका नहीं मिलता।

साम्प्रदायिक सवाल पर कांग्रेस की स्थिति तो बहुत पहले से साफ

है। उसने कह दिया कि उसका उद्देश्य राष्ट्रीय जनतंत्रीय हल निकालना है; लेकिन अगर साम्प्रदायिक सवाल से सम्बन्ध रखने वाले दलों में समझौता हो जाता है तो शायद वह इस निर्णय को स्वीकार कर ले। इसके अलावा वह आज़ाद हिन्दुस्तान के लिए विधान बनाने के लिए और साम्प्रदायिक मसलों पर फैसला देने के लिए राष्ट्रीय पंचायत पर जोर देती है।
२ जून १९३६।

: ८ :

पद-ग्रहण का निर्णय

कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक खत्म होने के बाद ही कुछ पत्र-प्रतिनिधियों ने मुझसे पूछा कि कार्यसमिति के पद-ग्रहण-वाले प्रस्ताव के बारे में आपकी क्या राय है ? मैंने उनसे कह दिया कि मैं इस बारे में कुछ नहीं कह सकता; क्योंकि कार्य-समिति के मेम्बर उसके प्रस्तावों पर बहस नहीं करते। और तब सहज भाव ही से मैंने यह भी कह दिया कि कार्य-समिति के मेम्बर के लिए कार्य-समिति का प्रस्ताव ठीक ही होना चाहिए। जब तक वह मेम्बर है तब तक उसे मानना चाहिए कि राजा की तरह, कार्य-समिति भी गलती नहीं कर सकती।

फिर भी मैं महसूस करता हूँ कि इस सवाल को मैं यों ही नहीं टाल सकता और कांग्रेस के अपने साथियों को उस प्रस्ताव के महत्व को बताने की मुझे कोशिश करनी चाहिए। दो-तीन बरस से मुल्क में पद-ग्रहण के सवाल पर बड़ा भारी वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। बहुत से लोगों ने और दलों ने उसपर बहस-मुबाहिसा किया है और वे अपने-अपने विचारों पर पक्के हैं। वे विचार वैसे ही रहते हैं; लेकिन उन विचारों के पीछे क्या है ? मैं खयाल करता हूँ कि कुछ ही आदमियों ने पद-ग्रहण की उसूलन मुखालफत की और जो क्रांतिकारी तब्दीलियों की परिभाषा में सोचते हैं, उन्होंने भी ऐसा नहीं सोचा कि पद-ग्रहण निश्चय ही गलत है। वे और बहुत ही डरे कि पद-ग्रहण में एक बड़ा खतरा है कि हम मामूली-सी सुधार कार्रवाइयों में फंस जायेंगे और अहम मसले को कुछ वक्त के लिए भूल जायेंगे। उन्हें डर हुआ कि सारा सूत्र जनता के हाथ से चला जायगा और हमारी कार्रवाइयां ज्यादातर कौंसिल-चेम्बर के घिरे और तंग दायरे तक ही सीमित हो जायेंगी। इसी खतरे की वजह से कांग्रेस, अखिल

भारतीय कांग्रेस कमेटी और कार्य-समिति ने बार-बार जोर देकर कहा कि जरूरी काम तो असेम्बलियों और कौंसिलों के बाहर है, जनता के सम्पर्क में है। अगर हम इस बात को याद रखें, हमारा ध्येय हमेशा आजादी रहे और हम उसके लिए काम भी करें तो खतरा कम-ही-कम होता जायगा और अपने ध्येय की पूर्ति में कौंसिल-चैम्बर से भी फायदा उठाया जा सकेगा।

कार्य-समिति ने वर्धा की बैठक में जो प्रस्ताव पास किया है उसके पीछे आज की कांग्रेस के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की राय है इसमें मुझे संदेह नहीं है। यह राय पद-ग्रहण के पक्ष में है। लेकिन इससे भी ज्यादा वह कांग्रेस की बुनियादी नीति के पक्ष में है कि नये विधान से तेजी से और मिलकर लड़ा जाय और उसका खात्मा किया जाय। पद-ग्रहण हमारी आजादी की लड़ाई का एक पहलू हो सकता है, लेकिन हमारा मुख्य ध्येय तो विधान का खात्मा करना और एक राष्ट्रीय पंचायत कायम करना है। वह ध्येय आज भी वैसा ही है जैसा कल था। पद-ग्रहण का रत्ती-भर भी यह मतलब नहीं है कि 'गुलाम' विधान को स्वीकार कर लिया गया। उसका अर्थ है असेम्बलियों और कौंसिलों के भीतर और बाहर अपनी ताकत के सब साधनों से आने वाले फैडरेशन के खिलाफ लड़ाई लड़ना।

इन्हीं सब बातों पर कार्य-समिति के प्रस्ताव ने जोर दिया है और इस बात को फिर साफ कर दिया है कि साम्राज्यवाद के साझीदार हम नहीं हो सकते, न उसे मदद ही दे सकते हैं। हमारे और ब्रिटिश-साम्राज्य के बीच की खाई पाटी नहीं जा सकती। हमारे दृष्टिकोण और ध्येय एकदम भिन्न हैं। इस तरह विधान को साधारणतया चलाने के विचार से हम असेम्बलियों में नहीं जाते, न पद स्वीकार करते हैं। यह फैडरेशन को फलीभूत होने से रोकने के लिए कोशिश करना है और उससे विधान को असफल बनाना और राष्ट्रीय पंचायत और आजादी के लिए जमीन तैयार करना है। यह सब जनता को मजबूत बनाने के लिए और विधान के तंग घेरे में, जहाँ कहीं मुमकिन हो, उसे सहायता देने के लिए है।

हरेक कांग्रेसी को ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

पिछले तीन महीनों में यह जाहिर हो गया है कि कांग्रेस पदों के लिए और उनको लेने के लिए इच्छुक नहीं थी। हमारे बिना मांगे भी पद तो हमारे ही थे; अगर हम उनकी उम्मीदों के साथ अपने को मिला सकते। हमने तो इस सवाल पर हमेशा इस दृष्टिकोण से विचार किया कि आजादी की लड़ाई के लिए, लोग मजबूत बनाये जायं। हमने कुछ सोच-विचार किया और अपने काम के लिए रास्ता साफ करने की कोशिश की, उसके फायदे और नुकसान देखे। इसमें सन्देह नहीं कि इन तीन महीनों में कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ और मजबूत हो गई है और अगर हम पद ग्रहण करते हैं तो उसी अपने दूर के ध्येय के लिये करते हैं और जब वह ध्येय और किसी अच्छी तरह से पूरा किया जा सकेगा तो पदों को छोड़ दिया जायगा।

कार्य-समिति का प्रस्ताव मौजूदा परिस्थितियों में अनिवार्य ही था और मैं यकीन करता हूँ कि सब कांग्रेसमैन सचाई से उस पर अमल करेंगे। लेकिन प्रस्ताव के पीछे जो भावना है उसके प्रति सच्चा होने के लिए हमें और भी ज्यादा ताकत लगाकर असेम्बलियों और कौंसिलों के बाहर काम करना चाहिए। चीजों को ठीक ठीक देखने की दृष्टि को हमें नहीं खोना चाहिए। असेम्बलियों और कौंसिलों के भीतर काम करने और आगे आने वाली लड़ाई के लिए असली ताकत तो हमें असेम्बलियों और कौंसिलों के बाहर से मिलेगी। पिछले प्रस्तावों की तरह इस प्रस्ताव का यही महत्त्व है।

हमने एक नया कदम बढ़ाया है, जिसमें नई जिम्मेदारियां हैं और कुछ खतरे हैं लेकिन अगर हम अपने ध्येय के प्रति सच्चे हैं और हमेशा सतर्क हैं, तो हम उन खतरों को जीत सकते हैं और इस कदम से भी ताकत हासिल कर सकते हैं। हर घड़ी सतर्क रहना आजादी के लिए बहुत जरूरी है।

१० जुलाई १९३७।

: ६ :

ब्रिटेन और हिन्दुस्तान[1]

आप कहते हैं कि "ब्रिटेन पुराने साम्राज्यवाद को छोड़ता जा रहा है। और अब उसका सक्रिय सम्बन्ध तो अराजकता को रोकने का रास्ता निकालना है जो विश्व-व्यापी राष्ट्रीय आत्म-निर्णय से फैल जाती है और जिससे नई-नई लड़ाइयाँ उठ खड़ी होती हैं या साम्राज्यवाद के बारे में जिससे नई-नई बातें फैल जाती हैं।" मुझे तो कहीं भी दिखाई नहीं देता कि ब्रिटेन ऐसा कुछ भी कर रहा है। और न मुझे यही दिखाई देता है कि पुराना साम्राज्यवाद खत्म हो रहा है। हाँ, उसे कायम रखने, मजबूत बनाने की जी-जान से बार-बार कोशिश की जा रही है, हालांकि कहीं-कहीं पर जनता को दिखाने के लिए बातें कुछ और ही रखी गई हैं। ब्रिटेन निश्चय ही नई-नई लड़ाइयाँ सिर नहीं लेना चाहता। वह तो एक संतुष्ट और अघाई हुई सत्ता है। इसलिए जो कुछ उसके पास है, उसे वह खतरे में क्यों डाले ? वह तो अपनी मौजूदा हालत को ही कायम रखना चाहता है, जो कि खास तौर से उसके फायदे के लिए है। नये साम्राज्यवादों को वह पसन्द नहीं करता, इसलिए नहीं कि साम्राज्यवाद उसे नापसंद है, बल्कि इसलिए कि वे उसके पुराने साम्राज्यवाद के संघर्ष में आते हैं।

आप हिन्दुस्तान के 'वैधानिक मार्ग' के बारे में भी कहते हैं। लेकिन यह 'वैधानिक मार्ग' है क्या ? मैं समझ सकता हूँ, ऐसी जगह जहाँ प्रजातन्त्रीय विधान होता है, वैधानिक कार्रवाइयाँ हो सकती हैं, लेकिन जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वैधानिक तरीकों का कोई अर्थ

---

१. जनवरी १९३६ में वेडनवीलर में मिले एक अंग्रेज मित्र के खत के उत्तर में।

नहीं होता। 'वैधानिक' शब्द का मतलब तब सिर्फ 'कानूनी' होता है और 'कानूनी' का मतलब होता है कि एक स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी की 'मर्जी के मुताबिक'—जो कानून बना सकती है और बिना लोकमत का ख्याल किये आज्ञा-पत्र और आर्डिनेंस जारी कर सकती है। उन्नीसवीं या बीसवीं सदी के शुरू के या अब के हिन्दुस्तान में ज्यादा-से-ज्यादा असर डालने वाले वैधानिक तरीके क्या हो सकते हैं? हिन्दुस्तान में कोई तब्दीली होने की संभावना नहीं थी। (अब भी नहीं है) हिन्दुस्तानियों के सामने तो बस दो ही रास्ते हैं। या तो वे प्रार्थना करें और नहीं तो विद्रोह करें। ज्यादा-से-ज्यादा हिन्दुस्तानी अपने मत को प्रभावशाली नहीं बना सकते, इसीसे यह जाहिर है कि वैधानिक मार्ग उनके लिए खुला हुआ नहीं है। वे या तो इस चीज को स्वीकार करें जिसे वे बेहद नापसन्द करते हैं, या तथाकथित वैधानिक तरीके के अलावा और कोई तरीका अख्तियार करें। ये तरीके खास परिस्थितियों में ठीक हों या नहीं; लेकिन उनके वैधानिक या अवैधानिक होने का सवाल तो नहीं उठता।

मेरा खयाल है, हममें बहुत-से अपने खास राष्ट्रीय पक्षपात को नहीं छोड़ सकते और अपनी आँख के शहतीर को अक्सर दरगुजर कर देते हैं। मैं महसूस करता हूँ कि मैं भी पक्षपात किये बिना नहीं रह सकता, खास तौर से जब कि मैं ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों पर विचार करता हूँ। उसके लिए आप माफ करेंगे। मैं यह कहूँ कि मुझे सबसे ज्यादा ताज्जुब होता है कि अंग्रेज किस तरह अपने भौतिक हितों के पीछे अपना नैतिक जोश लगा देते हैं और किस तरह उस अकाट्य मान्यता को लेकर चलते हैं कि वे हमेशा से दुनिया की भलाई ही कर रहे हैं, मुसीबत, लड़ाई, कठिनाई तो दूसरे की हठ और बददिमागी की वजह से पैदा होती है। यह मान्यता जैसा आप जानते हैं, सबको मान्य नहीं है और यूरोप, अमरीका और एशिया में तो इस बात पर हँसी-मजाक की टिप्पणियाँ भी होती हैं। हिन्दुस्तान में अगर हम उसे खास तौर से अंग्रेजी राज्य के अपने पिछले और मौजूदा तजुरबों से एकदम अस्वीकार करते हैं तो क्षमा मिलनी चाहिए।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हुआ है, और हो रहा है, उसे देखते हुए प्रजातंत्र और विधानवाद की बात करना मुझे उन युद्धों के महत्त्व को ही तोड़ना-मरोड़ना मालूम होता है। राज्य करने वाली ताकतें या जमातें अपनी खुशी से ही राज्य छोड़कर चली गई हों, ऐसा इतिहास में कहीं नहीं मिलता। और अगर इतिहास का ही सबक काफी नहीं है तो हिन्दुस्तान में सच्चे मामलों के आधार पर हमें काफी तजुरबा है।

मैं जानता हूँ कि यह ठीक है कि ब्रिटिश शासक-वर्ग में कुछ हद तक अपने को मुनासिब बातों के अनुकूल बना लेने की भावना है; लेकिन जब उनकी सत्ता की बुनियाद को ही चुनौती दी जाती है, तब इसी दिखावटी भावना के लिए गुंजाइश कम रह जाती है। अगर कोई यह सोचता है कि ब्रिटिश सरकार या पार्लमेंट हिन्दुस्तान की आजादी के ट्रस्टी हैं और वे उसी की तरक्की के लिए राज्य कर रहे हैं तो यह बात मुझे सबसे ज्यादा फरेब की मालूम होती है। मुझे यकीन है बहुत-से अंग्रेज ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के साथ हमदर्दी महसूस करते हैं; लेकिन नीति-निर्माण में उनका हाथ बिल्कुल नहीं रहता और वे भी, या उनमें से अधिकतर, सोचते हैं कि हिन्दुस्तान की आजादी ऐसी हो जो अंग्रेज की इच्छाओं और हितों से मेल कर सके। हमसे कहा गया है कि हमें आजादी और जिम्मेदारी तब मिलेगी जब हम अपने को उसके लायक साबित करेंगे। इसकी परख यह है कि कहाँ तक हम ब्रिटिश योजना में ठीक बैठ सकते हैं। ऐसी हालत में कोई भी महसूस करेगा कि वह इंग्लैंड के हमारे सलाहकारों और शुभचिन्तकों को यह राय दे कि वे ईसप की कहानियों की जानकारी फिर से ताजा करें और खास तौर से भेड़िये और मेमने की कहानी दोबारा पढ़ें।

यह बिलकुल ठीक है कि और-और बहुत सी चीजों की तरह राजनीति में भी हम कोरी स्लेट लेकर काम नहीं कर सकते। और यह भी ठीक है कि जिन्दगी अक्सर बड़ी जटिल होती है। आदमी की दलीलों से काम नहीं चलता। चीजों को जैसी वे हैं, वैसी ही हमें स्वीकार करना पड़ता है, चाहे

हम उन्हें पसन्द करे, या न करें, और अपने आदर्शों का उनसे मेल बैठाना होता है; लेकिन जाना हमें सही दिशा में चाहिए। आपके कहे अनुसार इसका मतलब है सबसे पहले हिन्दुस्तान की एकता कायम रखना, तब साम्प्रदायिकता का बहिष्कार करना, स्थापित स्वार्थों पर कब्जा और धीरे-धीरे उनका खात्मा करना, आदमियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करना, एक हिन्दुस्तानी फौज तैयार करना और हिन्दुस्तान के नौजवानों को रचनात्मक व्यावहारिक काम की शिक्षा देना, जो एक प्रजातन्त्रीय राज्य में जरूरी होता है। इन सबके पीछे समाजवादी आदर्श है। आम व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वे गहरी प्रवृत्तियाँ और आदतें और बढ़ें जो इस आदर्श को सच्चे तौर पर पूरा करने के लिए जरूरी हैं। मेरे अन्दाज से हममें से बहुत-से इस कथन पर, जहाँतक उसका फैलाव है, एक राय होंगे, चाहे हम उसे दूसरे शब्दों में रखें और कुछ उसमें जोड़ दें और कुछ बातों पर दूसरी बातों की बनिस्बत ज्यादा जोर दें। मैं आपके साथ यह भी मानता हूँ कि राजनीतिक पहलू पहले आते हैं, वास्तव में उस पहलू के बिना दूसरा और कोई पहलू मुमकिन नहीं है, सामाजिक तब्दीलियाँ (चाहे उस राजनीतिक पहलू के साथ ही) आवें या फौरन ही बाद में। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं राजनीतिक प्रजातन्त्र को ही स्वीकार करने के लिए पूरी तौर से तैयार हूँ। उम्मीद यह करूँगा कि उसमें सामाजिक प्रजातन्त्र हो जायगा। राजनीतिक प्रजातन्त्र तो उस लक्ष्य का सिर्फ एक रास्ता है, आखिरी ध्येय यह नहीं है। उसकी सच्ची मांग तो कभी-कभी अनजाने ही आर्थिक तब्दीलियों की चाह से पैदा होती है। अगर ये तब्दीलियां फौरन ही नहीं होतीं तो राजनीतिक ढांचा स्थापित नहीं होता। मैं यह सोचता हूँ कि हिन्दुस्तान की आज जैसी हालत है, उसमें आर्थिक तब्दीली होना बहुत जरूरी होगया है। इसलिए अगर कोई बड़ी राजनीतिक तब्दीली होती है तो जरूरी तौर पर उसके साथ खास आर्थिक तब्दीलियाँ भी होंगी। हर हालत में राजनीतिक तब्दीली ऐसी होनी चाहिए कि वह सामाजिक तब्दीलियों के लिए सहूलियत पैदा कर दे। अगर राजनीतिक

तब्दीली उसके रास्ते में रोड़ा अटकाती है तो वह माकूल तब्दीली नहीं है और न वह ऐसी ही है कि उसे किया जाय।

मैं नहीं जानता कि ऐसा कोई जिम्मेदार हिन्दुस्तानी है कि जो हिन्दुस्तान की एकता की परिभाषा में न सोचकर दूसरी भाषा में सोचता है। हमारे राजनीतिक धर्म की वह जरूरी आयत है। और हम जो-कुछ भी करते हैं, उसका लक्ष्य वही होता है। मैं मानता हूँ वह एकता संघीय एकता होगी; लेकिन उससे नये कानून—फैडरेशन—जैसी किसी चीज से मतलब नहीं है। वह एकता सामान्य जुए के नीचे की गुलामी की भी एकता नहीं है। यह मुमकिन है कि गड़बड़ी के काल में नाइत्तिफाकी पैदा होजाय और हिन्दुस्तान में जुदा-जुदा रियासतें कायम हो जायँ; लेकिन यह खतरा मुझे बहुत ही अवास्तविक दिखाई देता है। सारे मुल्क में एकता की ओर प्रवृत्ति बहुत ज्यादा है।

आपके कहने के मुताबिक फूट के कारण हैं मजहब, श्रेणी और भाषा। श्रेणी की अहमियत मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देती। हिन्दुस्तान में श्रेणी तो मजहब के साथ जुड़ गई है और कुछ-कुछ उसने जाति की शक्ल अख्तियार कर ली है। हिन्दू और मुसलमान जुदा-जुदा श्रेणियाँ नहीं हैं, वे जरूरी तौर पर श्रेणियों का एकीकरण हैं। इस तरह, हालांकि बहुत-सी श्रेणियां हैं; लेकिन वे एक-दूसरे में मिल जाती हैं और सब मिलकर उनसे जातीय और सांस्कृतिक रूप में एक निश्चित इकाई बन जाती हैं।

हिन्दुस्तान की तथाकथित सैकड़ों भाषायें हमारे आलोचकों के लिए प्रिय विषय हैं। वे उनमें से किसी-किसी को थोड़ा बहुत जानते हैं। असल में हिन्दुस्तान भाषाओं के हिसाब से बड़ी अच्छी तरह गुँथा हुआ है! यह तो सार्वजनिक शिक्षा न होने की वजह से यहां बहुत-सी बोलियां चल पड़ी हैं। कुछ थोड़े हिस्सों को छोड़ कर मुल्क भर में दस बड़ी भाषायें है। वे दो ग्रुपों में आ जाती हैं—इंडो-आर्य और द्रविड़—और इन दोनों के बीच सामान्य भाषा है संस्कृत। इंडो-आर्य भाषाओं में से, मैं समझता हूँ, शायद आप जानते हैं कि हिन्दुस्तानी सब अपनी और

भाषाओं के १२,००,००,००० व्यक्तियों की भाषा है। वह और फैल रही है। दूसरी इंडो-आर्य भाषाएं—बंगाली, गुजराती और मराठी उससे बहुत मिलती-जुलती हैं। मुझे यकीन है कि हिन्दुस्तान की एकता के लिए और-और चाहे जितनी कठिनाइयाँ पेश आवें; लेकिन भाषा के सवाल से कभी कोई बड़ी मुश्किल पैदा नहीं होगी।

आप हिन्दुस्तान की मजहबी हालत का यूरोप के पुनरुद्धार और धार्मिक सुधार के जमाने से मुकाबला करते हैं। यह ठीक है कि हिन्दु-स्तानियों की एक सुनिश्चित धार्मिक दृष्टि है, जिसका मध्यकाल के यूरोप की दृष्टि से मुकाबला किया जा सकता है। फिर भी आपका मुकाबला सतह से नीचे नहीं जाता। हिन्दुस्तान के अपने लम्बे इतिहास में कभी इतनी मजहबी लड़ाई नहीं हुई जितनी की यूरोप में हुई और जिसने यूरोप का खून चूसा। हिन्दुस्तान के धर्म, संस्कृति और दर्शन सबके पीछे सहन-शीलता है; दूसरे धर्मों तक को वे प्रोत्साहन देते हैं। जब इस्लाम आया तो कुछ झगड़ा उठ खड़ा हुआ लेकिन वह भी मजहबी होने के बनिस्बत कहीं ज्यादा राजनीतिक था, हालांकि जोर मजहबी पहलू पर ही हमेशा दिया गया है। वह शासक और शासित का झगड़ा था। हाल की यह सब बातें हो जाने पर भी मुझे हिन्दुस्तान में किसी खास पैमाने पर मजहबी लड़ाई आसानी से नहीं दिखाई देती। आज की साम्प्रदायिकता तो जरूरी तौर पर राजनीतिक, आर्थिक और मध्यवर्गीय है। मैं खयाल करता हूँ (लेकिन ऐसा मैं बिना निजी जानकारी के कहता हूँ) कि आज अल्सटर में मजहबी कटुता जितनी गहरी फैली हुई है, उतनी गहरी हिन्दुस्तान में कहीं नहीं है। यह एक सचाई है जिसे किसी को कभी नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता बाद की चीज है और उसका फैलाव हमारी आंखों के सामने हुआ है। इससे उसकी अहमियत कम नहीं हो जाती और न उसको हम दरगुजर ही कर सकते हैं; क्योंकि मौजूदा वक्त में वह हमारे रास्ते में बहुत बड़ी रुकावट है और उससे हमारी आगामी तरक्की में विघ्न पड़ने की सम्भावना है। फिर भी मेरा ख्याल है उसे बहुत

चढ़ा-चढ़ाकर कहा गया है और जोर भी उस पर जरूरत से ज्यादा दिया गया है। जरूरी तौर पर उसका जनता पर कोई असर नहीं पड़ता, हालांकि कभी-कभी जनता में जोश भड़क उठता है। सामाजिक मसलों के आगे आने से वह पीछे पड़ जायगी। कट्टर सम्प्रदायवादियों की साम्प्रदायिक मांगों की जांच करने से आपको पता चलेगा कि उन मांगों में से एक का भी ताल्लुक जनता से नहीं है। सब दलों के ये सम्प्रदायवादी नेता भी सामाजिक और आर्थिक सवालों से बहुत घबराते हैं और यह एक दिलचस्पी की बात है कि सामाजिक तरक्की का विरोध करने में वे मदद देते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य ने जरूर ही राजनीतिक एकता कायम करने में मदद दी है। सबके गुलाम होने से यह जरूरी था कि सब में ही उससे छुटकारा पाने की चाह हो। यह याद रखना चाहिए—यह ऐसी बात है जिसे अभी काफी महसूस नहीं किया गया—कि तमाम इतिहास में हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता रखने की भावना रही है। और आमद-रफ्त की मौजूदा हालतों में राजनीतिक एकता की इच्छा का बढ़ना लाजिमी था। सारे ब्रिटिश काल में सरकार की कुछ जान-बूझकर और कुछ अनजान में, यह कोशिश रही है कि इस एकता के रास्ते में रोड़े अटकाये जायँ। यही उससे उम्मीद भी की जा सकती थी; क्योंकि तमाम साम्राज्यों और शासक वर्गों की हमेशा ऐसी ही नीति रही है। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान में जो बड़े-बड़े अफसरों ने अपनी रायें जाहिर की हैं, वे पढ़ने में बड़ी दिलचस्प हैं। उस समय यह समस्या ज्यादा ध्यान देने लायक नहीं थी; लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ने से, और खास तौर से पिछले तीस बरसों में, वह बड़ी विकट हो गई। ब्रिटिश सरकार पर तो उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि फिरकों को पैदा करने और अगर सम्भव हो तो उन्हें शुरू करने के नये-नये तरीके निकाले जायँ। साफ तौर से कोई नहीं कह सकता कि हिन्दुस्तान में फिरकेबन्दी पैदा करने की आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं थी और राजनीतिक ताकत के पाने की

उम्मीदों से तो उसके और भी बढ़ने की आशा थी। यह मुमकिन था कि उस प्रवृत्ति की आवाज को कम करने के लिए कोई नीति ग्रहण की जाय। यह भी मुमकिन था कि उस नीति पर जोर दिया जाय। पर सरकार ने दूसरी नीति को ग्रहण किया है और मुल्क में हर तरह से फूट डालने वाली प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। सरकार या किसी के लिए भी यह मुमकिन नहीं है कि वह लोगों की ऐतिहासिक बढ़ोतरी को रोक दे, लेकिन वह उसके रास्ते में रोक लगा सकते हैं, रोड़े अटका सकते हैं, और ऐसा उन्होंने किया भी है। इन सबमें हाल ही का और सबसे अहम 'नया कानून' है। आप इस कानून की तारीफ करते हैं, क्योंकि हिन्दुस्तानी एकता की वह अलामत है। वास्तव में वह इसके बिलकुल उलटा है। यह तो ज्यादा फूट फैलाने की शुरुआत है (अगर उसे रोका नहीं गया)। वह हिन्दुस्तान को मजहबी तथा दूसरे बहुत-से हिस्सों में बाँटता है। बहुत-से हिस्सों को सामन्ती इलाका बनाये रखता है, जिसें कोई हाथ भी नहीं लगा सकता, लेकिन वह दूसरे हिस्सों पर अपना असर डाल सकता है और सामाजिक और आर्थिक मसलों पर, जिन्हें आप आज के हिन्दुस्तान की सबसे अहम और टाली न जाने वाली जरूरत मानते हैं, बने मजबूत राजनीतिक दलों की भी तरक्की को वह रोकता है।

सामाजिक मसलों पर भी अंग्रेजी सरकार की वैसी ही नीति है। समाजवाद को किसी भी रूप में अपनाना या स्थापित स्वार्थों पर कब्जा करना या उन्हें महरूम करना तो दूर रहा, जानबूझकर उसने बहुत-से स्थापित स्वार्थों को बचाया है, नयों को पैदा किया है और जरूरी तौर पर हिन्दुस्तान में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रतिगामियों की तरफदारी की है। फिर नया कानून तो इस नीति की पराकाष्ठा है। अब से पहले कभी भी इन स्थापित स्वार्थों और अज्ञानियों और प्रतिक्रियावादियों को इतनी ताकत नहीं मिली थी जितनी कि नये संघीय हिन्दुस्तान में उन्हें मिलेगी। आपके लिखे अनुसार उस सामाजिक तरक्की का, जो हमारा लक्ष्य होना चाहिए, यह नया कानून हिन्दुस्तान के तथा बाहरी

स्थापित स्वार्थों को वचा के और उनको मदद करके कानूनन दरवाजा वन्द करता है। मामूली सामाजिक सुधार भी पहुंच के वाहर है, क्योंकि राज्य के आमदनी करने के सारे जरिए स्थापित स्वार्थों के पोपण के लिए रेहन हो गये हैं और विशेपाधिकारों के अन्तर्गत हो गये हैं।

आज हरेक मुल्क को प्रतिक्रिया की ताकतों और वुराई के खिलाफ भारी लड़ाई लड़नी पड़ती है। हिन्दुस्तान भी उससे वाहर नहीं है। स्थिति की दुखभरी वात तो यह है कि अंग्रेज अनजाने आज अपनी पार्लमेण्ट और अफसरों के जरिये हिन्दुस्तान में एकदम वुराई की ही तरफदारी करते हैं। जिस चीज को वे अपने मुल्क में थोड़ी देर के लिए भी वर्दाश्त नहीं कर सकते, उसे हिन्दुस्तान में प्रोत्साहन देते हैं। आप अब्राहम लिंकन का वड़ा नाम लेते हैं और यूनियन को जो उसने अहमियत दी थी उसकी याद मुझे दिलाते हैं। मेरे खयाल में आप सोचते हैं कि ब्रिटिश सरकार का कांग्रेस के आन्दोलन को दमन करने की कोशिश में यही ऊंचा उद्देश्य रहा था कि फूट डालने वाली स्थितियों के होते हुए भी हिन्दुस्तान की एकता को कायम रखे। मुझे तो दिखाई नहीं देता कि किस तरह उस आन्दोलन से हिन्दुस्तान की उस एकता के भंग होने का डर था। वास्तव में मेरा खयाल है कि सिर्फ यह या ऐसा ही कोई आन्दोलन मुल्क में अंगांगी-एकता पैदा कर सकता है। अंग्रेजी सरकार की कार्रवाइयाँ तो हमें दूसरी तरफ ढकेलती हैं। इसके अलावा क्या आप यह नहीं सोचते कि लिंकन का साम्राज्यवादी ताकत के अपने शासित मुल्क के आन्दोलन के दमन करने की कोशिश से मुकाविला करना वहुत-दूर की वात है?

आप चाहते हैं, लोगों की वुरी और खुदगरजी की आदतें और भावनायें दूर हों। क्या आप सोचते हैं कि अँग्रेज हिन्दुस्तान में इस दिशा में कुछ भी मदद कर रहे हैं? प्रतिगामियों को जो मदद दी गई है उसके अलावा, अँग्रेजी राज्य के आधार पर विचार करना जरूरी है। उसका आधार वढ़ी-चढ़ी और फैली हिंसा है और डर उसका प्रधान कारण है। एक राष्ट्र की तरक्की के लिए जो आजादी जरूरी समझी

जाती है, उसी का यह सरकार दमन करती है। निडर, बहादुर और काबिल आदमियों को वह कुचलती है और डरपोक, अवसरवादी, दुनिया-साज, बुजदिल और दंगाइयों को आगे बढ़ाती है। उसके चारों तरफ खुफिया पुलिस, खबर देने वाले और भड़काने वाले आदमियों की फौज रहती है। क्या यह ऐसा वायुमंडल है जिसमें अच्छे-अच्छे गुणों या प्रजातंत्रीय संस्थाओं की तरक्की हो ?

आप मुझसे पूछते हैं कि क्या काँग्रेस कभी बहुमत से तमाम हिन्दुस्तान के लिए असली तौर पर सम्प्रदायवादियों, देशी नरेशों और संपत्ति के लिए एकसी रियायतें देने के अलावा कोई उदार विधान कायम कर सकती थी ? इससे यह मतलब निकला है कि मौजूदा कानून रजामन्दी से लिबरल विधान कायम करता है। अगर इस विधान को उदार कहा जा सकता है तो मेरे लिए यह समझना मुश्किल है कि अनुदार विधान फिर कैसा होगा ? और बहुमत का जहां तक सवाल है मुझे सन्देह है कि जो कुछ अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तान में किया है उसके लिए कभी इतनी नाराजगी और नापसन्दगी दिखाई गई हो जितनी कि इस नये कानून के लिए दिखाई गई है। जरूरी रजामन्दी लेने के लिए तमाम मुल्क में खूंखार दमन हुआ है और अब भी नये कानून को चालू करने के लिए अखिल भारतीय और प्रान्तीय कानून पास किये गये हैं जो हर तरह की नागरिक आजादी का दमन करते हैं। ऐसी हालतों में बहुमत की बात करना बड़ा अजीब-सा लगता है। इस बारे में इंग्लैंड में बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। अगर समस्या का मुकाबला करना है, तो बड़ी-बड़ी बातों को दरगुजर नहीं किया जा सकता।

यह सच है कि सरकार ने देशी नरेशों और कुछ अल्पसंख्यक दलों के साथ कुछ समझौता कर लिया है, लेकिन ये दल भी, कुछ हद तक अपने प्रतिनिधित्व के बारे में कुछ मामूली समझौते को छोड़ कर, बेहद असंतुष्ट हैं। मुख्य अल्पसंख्यक मुसलमानों को ही लीजिए। कोई नहीं कह सकता कि गोलमेज कान्फ्रेंस के रईस, अर्धसामन्त और दूसरे चुने

मेम्बर मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्त्व करते थे। आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि काँग्रेस के पीछे अब भी मुसलमानों की ताक़त है।

क्या कांग्रेस इससे और अच्छा कर सकती थी? मुझे सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलन, जिसकी काँग्रेस प्रतीक है और खास निशान-बरदार है, इससे और अच्छा कुछ कर सकता था। काँग्रेस फिर भी मध्य श्रेणी का संगठन है (मेरी इच्छा है कि वह और समाजवादी होती) इसलिए सम्पत्ति की योग्यता का सवाल इस अवस्था में तीक्ष्ण रूप से नहीं उठ सकता था। मैं समझता हूँ कि कम-से-कम बहुमत से साम्प्रदायिक सवाल का सामना करना पड़ता। और कुछ वक्त के लिए उस सवाल को सुलझा लेना पड़ता। मुमकिन था कि थोड़ी सी साम्प्रदायिकता फिर भी शुरू-शुरू में रह जाती, लेकिन नये कानून में जितनी साम्प्रदायिकता पाई जाती है उससे तो कम ही होती। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जल्दी-से-जल्दी साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए और सामाजिक आधार पर उन्नति करने के लिए स्थितियाँ पैदा की जातीं और धरती सम्बन्धी समस्या का भी हल निकाला जाता। असली मुश्किलें तो दो होतीं, अँग्रेजी सरकार के स्थापित स्वार्थ व लन्दन शहर और देशी नरेश। असल मुश्किल तो पहली है। बाकी सब तो बिलकुल मामूली है। ऐसी हालतों में देशी नरेश बहुत हद तक नई परिस्थिति के मुताबिक अपने को बना लेते और काँग्रेस, जैसी कि आज उसकी रचना है, उन्हें कहीं ज्यादा आजादी दे देती। उनकी प्रजा और जनमत का दबाव बहुत ज्यादा होता और उनका मुकाबिला वे न कर पाते। मुमकिन है कुछ अस्थायी समझौता होजाता, जिससे जनमत को अपना कार्य करने और सुधार की रूप-रेखा बनाने का मौका मिल जाता। अंग्रेजी सरकार देशी नरेशों की अक्षुण्ण स्वेच्छाचारिता की मदद नहीं करती तो निस्संदेह देशी राज्य धीरे-धीरे सीधे रास्ते पर आजाते। घरेलू लड़ाई का सवाल उठाने की जरूरत ही न होती।

जो मैं चाहता हूँ, उससे यह बहुत दूर ही होता, लेकिन कम-से-कम

वह एक ठीक दिशा में निश्चित राजनीतिक और जनतंत्रीय कदम होता। जब विधान या राजनीतिक ढांचा बनाया जाता है तो उससे सम्बन्धित सबको राजी कर लेना स्पष्ट रूप से नामुमकिन होता है। अधिक-से-अधिक लोगों को राजी करने की कोशिश की जाती है; और बाकी जो रजामन्द नहीं होते, वे या तो जनतंत्रीय कार्य-पद्धति के मुताबिक उसमें आ मिलते हैं या दबाव और जोर से उनसे वैसा कराया जाता है। अंग्रेजी सरकार ने स्वेच्छाचारिता और अधिकार-परम्परा का प्रतिनिधित्व करके और मुख्यतः अपने ही फायदों की रक्षा करने पर कमर कसके देशी नरेशों और कुछ प्रतिगामी लोगों की रजामंदी पाने की कोशिश की और बहुत से लोगों को दबाया। कांग्रेस की कार्य-प्रणाली निश्चय ही इससे भिन्न होती।

ये सब हवाई बातें हैं, तथ्य इनमें कुछ नहीं हैं; क्योंकि इसमें एक खास साधन ब्रिटिश सरकार को भुला दिया जाता है।

एक और विचार है जो ध्यान देने योग्य है। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अहिंसा पर जोर दिया है। उसने इस बात पर भी जोर दिया है कि दुश्मन को दबाने के बजाय उसका हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। इस सिद्धान्त के आत्मवादी पहलुओं को और अंतिम अर्थों में वह क्रियात्मक है या नहीं, इसको छोड़कर, इसमें सन्देह नहीं कि उससे घरेलू झगड़ों के खिलाफ एक दृढ़ भावना पैदा हुई और हिन्दुस्तान के जुदा-जुदा दलों को जीतने की कोशिश की गई। हिन्दुस्तान में एकता रखने और विरोध को दबाने में यह भावना हमारे लिए एक बड़ी कीमती चीज है।

लोगों में चर्चा है कि असहयोग और सविनय कानून-भंग आन्दोलन वैधानिक कार्रवाइयां थीं या नहीं? मैं आपके सामने निवेदन करूं कि उन्होंने मेरे ऊपर कैसा असर डाला है? इन आन्दोलनों ने अंग्रेजी सरकार के ऊपर बेहद जोर डाला है और सरकार की मशीनरी को हिला दिया है, लेकिन मेरे खयाल से उसकी असली अहमियत तो इस बात में है कि उसने हमारे ही आदमियों के ऊपर, खास तौर से देहाती जनता पर कैसा असर डाला है? गरीबों और लम्बे स्वेच्छाचारी राज्य और उससे पैदा

हुए लाजिमी दबाव और डर ने लोगों को हीन और जलील बना दिया था। एक सभ्य नागरिक में जिन गुणों की जरूरत होती है, वे मुश्किल से उनमें मिल सकते थे। मामूली अफसरों ने, टैक्स कलक्टरों ने पुलिसमैनों ने, जमींदारों के गुमाश्तों तक ने, उन्हें मारा-पीटा, डांट-डपट कर धमकाया। हिम्मत उनकी एकदम खत्म हो गई थी और मिलकर काम करने या जुल्म का मुकाबिला करने की ताकत उनमें नहीं बची थी। वे बुजदिलों की तरह दबकते फिरते थे और एक-दूसरे की बुराई करते थे। और जब जिन्दगी मुहाल हो उठी तो उन्होंने उससे मौत में छुटकारा पाया। यह तमाम बड़ा संकटापन्न और शोकजनक था; लेकिन उसके लिए उन्हें दोषी कोई मुश्किल से ठहरा सकता था। वे तो सर्व-शक्तिमान् परिस्थितियों के शिकार थे। गांधी जी के असहयोग ने उन्हें इस दलदल में से बाहर खींचा और उनमें आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन पैदा किया। उनमें मिलकर काम करने की आदत पड़ी; हिम्मत से उन्होंने काम किया और नाजायज जुल्म के सामने वे आसानी से नहीं झुकने लगे; उनकी दृष्टि फैली और थोड़ा बहुत वे सामूहिक रूप से हिन्दुस्तान के बारे में सोचने लगे। वे राजनीतिक और आर्थिक सवालों पर (निःसन्देह उलटे-पुलटे तौर पर) बाजारों और सभाओं में चर्चा करने लगे। निम्न मध्यम-वर्ग पर भी वही असर पड़ा; लेकिन जनता पर जो असर पड़ा वह बहुत महत्त्वपूर्ण था। वह जबरदस्त परिवर्तन था। और इसका श्रेय गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस को है। वह विधानों या सरकारों के ढांचे से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण था। सिर्फ इसी नींव पर ही मजबूत इमारत या विधान खड़ा किया जा सकता था।

इस सबसे पता चलता था कि हिन्दुस्तानी जिन्दगी में एक गैबी हल-चल मची थी। दूसरे मुल्कों में ऐसे मौकों पर अक्सर बहुत ज्यादा हिंसा और नफरत हो आती है लेकिन हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी की कृपा से अपेक्षाकृत कहीं कम हिंसा और नफरत हुई। लड़ाई के बहुत से गुण हमने अपना लिये और उनकी खौफनाक बुराइयों को छोड़ दिया और

हिन्दुस्तान की असली मौलिक एकता इतनी पास आ गई जितनी पहले कभी नहीं आई थी। मजहबी और साम्प्रदायिक झगड़ों की आवाज दब गई। आप जानते हैं कि सबसे खास सवाल जो देहाती हिन्दुस्तान यानी हिन्दुस्तान के ८५ फीसदी हिस्से पर असर डालता है, वह जमीन का सवाल है, किसी भी दूसरे मुल्क में ऐसी हलचल और खूंखार आर्थिक संकट से किसानों का विद्रोह मच जाता। यह गैरमामूली बात है कि हिन्दुस्तान उस सबसे बच गया। ऐसा सरकार के दमन की वजह से नहीं हुआ; बल्कि गांधी जी की शिक्षा और कांग्रेस के सन्देश की बदौलत हुआ।

इस तरह कांग्रेस ने मुल्क में सब जीवित शक्तियों को आजादी दी और बुराई और फूट डालने वाली प्रवृत्तियों का दमन किया। ऐसा उसने शांत, व्यवस्थित और सभ्य तरीके से किया, जहाँ तक कि उन परिस्थितियों में मुमकिन हो सकता था, हालांकि इस तरह जनता को आजादी देने में खतरा भी था। सरकार पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। सरकार ने उन जीवित और बहादुराना ताकतों को कुचलने की कोशिश की; तमाम बुरी और फूट डालने वाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। यह सब उसने बड़े ही असभ्य ढंग से किया। पिछले छः सालों में सरकार बिलकुल फासिस्ट तरीकों पर चली है। फर्क सिर्फ इतना रहा है कि उसने खुले तौर से इस बात में गर्व नहीं दिखाया है, जैसा कि फासिस्ट मुल्क करते हैं।

पत्र बेहद लम्बा हो गया है और अब मैं नये वैधानिक कानून पर विस्तार से विचार नहीं करना चाहता। यह जरूरी भी नहीं है, क्योंकि हिन्दुस्तान में बहुत-से आदमियों ने उसका विश्लेषण किया है और उसकी आलोचना की है। उन सबके मत अलहदा-अलहदा होने पर भी सबने एकमत होकर इस नये कानून को एकदम नापसन्द किया है। अभी हाल ही में भारतीय लिबरलों के एक खास नेता ने नये विधान के बारे में खानगी में कहा था कि वह "हमारी तमाम राष्ट्रीय तमन्नाओं का तीव्र-से-तीव्र विरोध है।" यह कोई

कम मार्के की बात नहीं है कि हमारे नरम दल के राजनीतिज्ञ भी ऐसा ही सोचते हैं। फिर भी आप, हिन्दुस्तान की तमन्नाओं के लिए बड़ी हमदर्दी रखते हुए, इस कानून को पसन्द करते हैं और कहते हैं कि "वह हिन्दुस्तानियों के हाथ में महान् शक्ति सौंपता है।" क्या हमारे सोचने के तरीके इतने भिन्न हैं? ऐसा क्यों है? यह तो राजनीतिक या आर्थिक समस्या की बनिस्बत कहीं ज्यादा मनोवैज्ञानिक समस्या बन जाती है।

मनोवैज्ञानिक पहलू आखिर है भी बहुत महत्त्वपूर्ण। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या हो गया है, क्या इंग्लैंड में इसे महसूस किया गया है? मानवीय गौरव और भद्रता को कुचलने की जिस तरह कोशिश की गई उसकी छाप कितनी गहरी हिन्दुस्तानियों पर पड़ी है? शरीर से कहीं ज्यादा वह आत्मा की चोट थी। इतनी अच्छी तरह मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया था कि ताकत का जल्लादी इस्तैमाल ताकत का प्रयोग करने वाले और उसे सहने वाले दोनों को जलील बना देता है। जबतक हममें भद्रता और स्वाभिमान है, तब तक इसे हम कैसे भूलें? जुल्म जब रोजमर्रा होते हैं तो हम उन्हें कैसे आँख-ओझल करें? क्या यह आजादी की शुरुआत है और क्या यही महान् शक्ति का हिन्दुस्तानियों के हाथ में सौंपा जाना है?

लोगों में जुल्म की अलहदा-अलहदा तरीकों से प्रतिक्रियायें होती हैं। कुछ तो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं; कुछ मजबूत हो जाते हैं। हिन्दुस्तान में भी और जगहों की तरह ये दोनों प्रतिक्रियायें मौजूद हैं। हममें से बहुत-से अपने साथियों को, जो जेल में या दूसरी तरह से दुःख उठाते हैं, नहीं छोड़ सकते; इसके लिए चाहे कुछ भी क्यों न भुगतना पड़े। हममें से बहुत-से गांधीजी का अपमान सहन नहीं कर सकते, चाहे हम उनके विचारों से सहमत हों या न हों; क्योंकि हमारे लिए गांधी हिन्दुस्तान का गौरव है। उनके जैसा कोई भी आदमी लड़ाई और दुःख को पसन्द नहीं करता और न आफतों को। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने यथाशक्ति इस तरीके को छोड़ने की कोशिश की है, यद्यपि साथ ही उसकी

मौजूदगी की बुनियाद को नहीं छोड़ा; लेकिन अंग्रेजी सरकार उसी रास्ते पर बढ़ती गई है और उसका अहिंसात्मक हल निकालना मुश्किल से मुश्किल बना दिया है। अगर सरकार सोचती है कि सिर्फ उसी दिशा में चले चलने से उसे कामयाबी मिल जायगी, तो मालूम होता है कि उसने इतिहास और हिन्दुस्तानियों के मौजूदा स्वभाव को बड़े गलत तरीके से समझा है। अगर मुसीबत टालनी है तो अंग्रेजी सरकार को जरूर अपने कदम पीछे रखने होंगे।

: १० :

विद्यार्थी और राजनीति

आजकल हिन्दुस्तान की हालत बड़ी विचित्र हो रही है और जो सवाल उठाये जाते हैं, वे हमें अचरज में डाल देते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि आजादी भारत के लिए बुरी साबित होगी और असल में आजादी न मिलना ही उसके लिए फायदेमंद होगा। दैवी ताकत मेरे पास नहीं है, इसलिए इन जटिल समस्याओं को समझने में मुझे कुछ कठिनाई होती है। एक और अजीब सवाल है, जो विद्यार्थियों और राजनीति से सम्बन्ध रखता है। कुछ लोग कहते हैं कि विद्यार्थियों को राजनीति में हर्गिज हिस्सा नहीं लेना चाहिए। राजनीति है क्या? भारत में (सरकारी भारत में) आमतौर से जो उसका मतलब लगाया जाता है, उसके अनुसार सरकार की मदद करना या उसका समर्थन करना राजनीति नहीं है; राजनीति तो भारत की मौजूदा सरकार की आलोचना करना या सरकार के खिलाफ काम करना है।

विद्यार्थी कौन है? प्राथमिक स्कूलों के बच्चों से लेकर कालेजों के नवयुवक और नवयुवतियों तक सब विद्यार्थी हैं। स्पष्टतः एक-से सिद्धान्त दोनों पर लागू नहीं हो सकते।

आज बहुत से वयस्क विद्यार्थियों को आने वाले प्रान्तीय चुनावों में वोट देने का अधिकार है। वोट देना राजनीति में हिस्सा लेना है। समझ बूझकर वोट देने के लिए जरूरी होता है कि राजनीतिक मसलों को समझा जाय, मसलों के समझने से अक्सर एक राजनीतिक नीति को भी मानना पड़ जाता है। नीति मानने पर नागरिक का कर्तव्य हो जाता है कि उस नीति का प्रचार करे और दूसरों का मत बदलकर उन्हें उस पर चलावे। इस तरह वोटर जरूरी तौर पर राजनीतिक होना चाहिए। और

अगर वह एक तेज नागरिक है तब तो उसे एक चतुर राजनीतिज्ञ होना चाहिए। जिनमें राजनीतिक या सामाजिक भावनायें नहीं हैं वे ही निष्क्रिय, तटस्थ या उदासीन रह सकते हैं।

वोटर के इस कर्त्तव्य से जुदा भी हरेक विद्यार्थी को, अगर उसे ठीक-ठीक शिक्षा मिली है, जिन्दगी और उसके मसलों के लिए अपने को तैयार करना चाहिए; नहीं तो उसकी शिक्षा पर की गई मेहनत बेकार हो जायगी। राजनीति और अर्थशास्त्र ऐसे मसलों को सुलझाते हैं। इसलिए आदमी जब तक उन्हें नहीं समझता, तब तक उसे ठीक पढ़ा-लिखा नहीं कहा जा सकता। बहुत से आदमियों के लिए शायद यह मुश्किल है कि जीवन के निबिड़ वन में साफ-साफ रास्ता देखें। पर इससे क्या? चाहे हम उन मसलों का हल जानते हों, या न जानते हों, कम-से-कम हमें उनकी खासियत का अन्दाज तो होना ही चाहिए। जिन्दगी कौन-कौन से सवाल हमसे करती है? जवाब इसका मुश्किल है; लेकिन अजीब बात तो यह कि आदमी बिना सवालों को ठीक-ठीक समझे उनका जवाब देने की कोशिश करते हैं। ऐसा बेकार रुख कोई गंभीर और विचारवान विद्यार्थी नहीं ले सकता।

तरह-तरह के वाद जो आजकल की दुनिया में अपनी अहमियत रखते हैं—राष्ट्रवाद, उदारवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, फासिज्म वगैरा—ये जुदा-जुदा दलों के इन्हीं जिन्दगी के सवालों को हल करने की कोशिशें हैं। इनमें कौन-सा हल ठीक है? या वे सब गलती पर हैं? हर हालत में हमें अपना निर्णय करना है और निर्णय करने के लिए जरूरी है कि ठीक-ठीक निर्णय करने की हममें समझ हो और ताकत हो, विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता पर दबाव होने से ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। अगर विशाल सत्ता हमारे सिर पर बैठती है और हमें आजादी से सोचने से रोकती है, तब भी ऐसा नहीं किया जा सकता।

इस तरह सब विचारवान लोगों के लिए, खास तौर से और लोगों की बनिस्बत विद्यार्थियों के लिए, यह जरूरी हो जाता है कि वे राजनीति में

पूरा-पूरा सैद्धान्तिक भाग लें। कुदरतन यह बात कम उमर के विद्यार्थियों की बनिस्बत, जिनके सामने जिन्दगी के मसले सपने में भी नहीं हैं, बड़ी उमर के विद्यार्थियों पर ही लागू होगी जो जिन्दगी में पैर रख रहे हैं। लेकिन सैद्धान्तिक विचार ही ठीक तरह से समझने के लिए काफी नहीं हैं। सिद्धान्त के लिए भी व्यवहार की जरूरत होती है। पढ़ाई के खयाल से ही विद्यार्थियों को चाहिए कि वे लेक्चर-हॉल को छोड़कर गाँवों, शहरों, खेत और कारखानों में जायँ और वहाँकी असलियत की जाँच करें और आदमियों के कामों में, जिनमें राजनीतिक काम भी शामिल हैं, कुछ हद तक हाथ बटावें।

आमतौर से हरेक को अपने काम की हद बाँधनी होती है। विद्यार्थी का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने दिमाग और जिस्म को शिक्षित करे और उन्हें विचार करने, समझने और काम करने के लिए तेज औजार बनाये। जब तक विद्यार्थी को शिक्षा नहीं मिलती, तबतक वह चतुराई के साथ न तो सोच सकता है और न काम कर सकता है। पर शिक्षा पवित्र सलाह पाकर ही नहीं मिल जाती। उसके लिए थोड़ा-बहुत काम में लगना पड़ता है। उस काम के लिए, मामूली हालत में, सैद्धान्तिक शिक्षा मिलनी चाहिए; लेकिन काम को उड़ाया नहीं जा सकता, नहीं तो शिक्षा ही अधूरी रहेगी।

यह हमारी बदकिस्मती है कि भारत में पढ़ाई का तरीका एकदम नामौजूं है; लेकिन उससे भी बड़ी बदकिस्मती उच्चाधिकार का वायुमंडल है, जो उसको चारों ओर से घेर रहा है। अकेली शिक्षा में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में हर जगह लाल पोशाक वाली दिखावटी और अक्सर खाली मगज वाली ताकत आदमियों के अपने ही तरीके के ढांचे में ढालने की कोशिश करती है और दिमाग की तरक्की और खयालात के फैलाव को रोकती है। हाल ही में हमने देखा है कि उस ताकत ने खेल-कूद के राज्य में भी कितनी गड़बड़ कर डाली है और इङ्गलैंड में हमारी क्रिकेट-टीम को, जिसमें होशियार खिलाड़ी थे, उन नाजानकारों ने लँगड़ा कर दिया जिनका उस

पर अधिकार था। काबिल आदमियों का बलिदान किया गया, जिससे उस ताकत की जीत हो! हमारी यूनीवर्सिटी ही में यही ताकत की भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म को नहीं मान लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसंद नहीं करतीं जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है। वे साहस की भावना और आजाद हिस्सों में आत्मा के बहादुराना कामों को भी नहीं बर्दाश्त कर सकतीं। तब अगर हममें से ऐसे आदमी नहीं पैदा हो सकते जो ध्रुवों को या एवरेस्ट को जीतने की कोशिश करें; तत्त्वों को जीतकर आदमी के लिए फायदेमन्द बनावें, आदमी की न जानकारी और डरपोकपन, सुस्ती और छुटाई को दूर करें और उसे ऊँचा बनाने की कोशिश करें, तो इसमें अचरज क्या है?

क्या विद्यार्थियों को जरूर ही राजनीति में हिस्सा लेना चाहिए? जिन्दगी में भी क्या वे हिस्सा लें—जिन्दगी की तरह-तरह की क्रियाओं में पूरा-पूरा हिस्सा? या क्लर्क बने ऊपर से आये हुक्मों को बजाते रहें? विद्यार्थी होते हुए वे राजनीति से बाहर नहीं रह सकते। भारतीय विद्यार्थियों को और भी राजनीति के सम्पर्क में रहना चाहिए। फिर भी यह सच है कि मामूली तौर से अपनी बढ़ोतरी के काल में दिमागी और जिस्मानी शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान होना चाहिए। उन्हें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए; लेकिन नियम ऐसे न हों कि उनके दिमाग ही कुचल डालें और उनके जोश को ही खत्म करदें।

ऐसा मामूली तौर से हो, लेकिन जब मामूली कायदों को नहीं माना जाता तो गैर-मामूली हालतें पैदा हो जाती हैं। महायुद्ध में इंग्लैंड, फ्रांस जर्मनी के विद्यार्थी कहाँ थे? अपने कालेजों में नहीं, बल्कि खाइयों में मौत का मुकाबला कर रहे थे और मर रहे थे। आज स्पेन के विद्यार्थी कहाँ हैं?

एक गुलाम मुल्क में कुछ हद तक गैर-मामूली हालतें होती हैं। भारत भी आज वैसा ही मुल्क है इन हालतों का खयाल करते वक्त हमें अपनी

परिस्थितियों और दुनिया की बढ़ती गैर-मामूली हालतों का भी खयाल रखना चाहिए। और चूंकि हम उन्हें समझने की कोशिश करते हैं, इसलिए घटनाओं के निर्माण में, चाहे कितना ही थोड़ा क्यों न हो, हमें हिस्सा लेना पड़ता है।

१ अक्टूबर १९३६।

: ११ :

फासिज्म और साम्राज्य

'व्हाइट इंडिया कमेटी' ने किंग्सवे हाल में जिस प्रदर्शन का आयोजन किया है, उसमें मैं खुशी के साथ शामिल होता हूँ। चाहे हम पड़ौस के यूरोप के दूसरे देशों में हों, चाहे दूर हिन्दुस्तान में, स्पेन और उसका दुःखभरा नाटक, जो वहाँ खेला जा रहा है, हमारे मन पर चढ़ा हुआ है; क्योंकि यह नाटक और झगड़ा सिर्फ स्पेन का ही नहीं है, बल्कि तमाम दुनिया का है। हमारे इतना खयाल करने का एक सबब और है। स्पेन में आखिर में जो होगा, उसी पर हमारा भविष्य निर्भर करता है। बहुत-से आदमी जान गये हैं कि स्पेन की लड़ाई अब स्पेन की लड़ाई नहीं रही है, और न स्पेन के जुदा-जुदा दलों का वह घरेलू झगड़ा ही है। वह तो स्पेन की धरती पर यूरोप भर की लड़ाई है। और सही कहा जाय तो, वह बाहर से दो फासिस्ट ताकतों का और खुदगरजी का स्पेन पर हमला है। इसलिए स्पेन में दो विरोधी ताकतें—फासिज्म और फासिज्म विरोधी—अपने-अपने प्रभुत्व के लिए लड़ रही हैं। और प्रजातन्त्र, जो यूरोप के बहुत-से देशों में कुचल दिया गया है, अपनी जिन्दगी के लिए जी-जान से लड़ रहा है।

एक तरफ इटली के फासिज्म और जर्मनी के नाजीज्म हैं तथा दूसरी ओर स्पेन का प्रजातन्त्र। उन्हीं की यह लड़ाई है। यह तो बात बिलकुल साफ दिखाई देती है। और मेरा खयाल है कि ज्यादातर अंग्रेज जो प्रजातन्त्र और आजादी के समर्थक हैं, वे स्पेन के आदमियों के साथ हमदर्दी रखते हैं। लेकिन इन्हीं आदमियों में से बहुत ऐसे है जो स्पेन के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार की नीति को शायद उतना साफ-साफ नहीं समझते; लेकिन जब वे कुछ और आगे बढ़कर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हिन्दुस्तान के सम्बन्ध पर विचार करते हैं तो एकदम उलझन में पड़

जाते हैं।

स्पेन से हमें असली बात यह मालूम होती है कि फासिज्म और साम्राज्यवाद सहोदर हैं। साथ-साथ वे आगे बढ़ रहे हैं। उनके मुँह एक-दूसरे के खिलाफ हों तो क्या, और कभी-कभी उनमें आपस में झगड़ा भी हो पड़े तो क्या ? अँग्रेज तो देखते हैं कि उनकी सरकार का प्रजातंत्री पहलू कम या ज्यादा घरेलू घेरे में काम करे और वे इससे नतीजा निकालते हैं कि दूसरी जगहों पर भी उनकी सरकार का प्रजातंत्री आधार है; लेकिन पिछले चार वर्षों की उसकी तमाम विदेशी नीति से पता चला है कि जो ताकतें उसे चला रही हैं, उनका प्रजातंत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो फासिस्ट ताकतों के ही बढ़ने में मदद देती है, हालाँकि जब-जब उन्होंने पाया है कि उससे ब्रिटिश-साम्राज्य के हितों को हानि पहुंचेगी, तब तब उसे रोकने की उन्होंने बे-मन और निष्फल कोशिश की है। एबीसीनिया के साथ लज्जाजनक विश्वासघात, मध्य यूरोप के षड्यन्त्र में और स्पेन में अ-हस्तक्षेप का प्रहसन, जिसमें फलतः फासिस्ट इटली ने खुले तौर से प्रतिज्ञा की कि वह स्पेन के आदमियों का संहार करने के लिए फौजें भेजता रहेगा,—यही सुदूर-पूर्व में ब्रिटिश नीति की कथा है।

बहुत-से आदमी ब्रिटिश विदेशी नीति की इन असम्बद्धताओं और प्रतिकूलताओं को देखकर अचरज में भर जाते हैं; लेकिन असली असम्बद्धता कुछ नहीं है। असम्बद्धता तो उन लोगों के दिमागों में है जो यह सोचते हैं कि ब्रिटिश घरेलू नीति का प्रजातान्त्रिक रूप ही उसकी विदेशी नीति में भी काम करता है। या कभी उन विदेशी मंत्रियों और दूसरे राजनीतिज्ञों के वक्तव्यों से असम्बद्धता पैदा हो जाती है, जो शब्दों की बाजीगरी दिखाकर लोगों को इन विरोधी प्रवृत्तियों और नीतियों से मेल-मिलाप करने के लिये भ्रम में डाल देते हैं। लड़ाई के क्षेत्र में भी ब्रिटिश विदेशी-नीति लगातार बिना हिचकिचाहट के फासिज्म के साथ सम्बन्ध बनाये रखने की रही है। स्पेन का तमाम दारुण विध्वंस भी उसे अपने निश्चित मार्ग से नहीं हटा सका और न एडिस अबाबा का रक्तपात ही रत्तीभर भी उसे

इधर-उधर कर सका है। उत्तरी और मध्ययूरोप और भूमध्यसागर में फासिस्ट ताकतों के बढ़ने पर ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति खतरे में पड़ जायगी, इस डर ने भी उसकी नीति में कोई खास तब्दीली नहीं की है।

ऐसा क्यों है? क्योंकि साम्राज्यवाद और फासिज्म में जरूरी तौर पर निकट का सम्बन्ध है और दोनों एक-दूसरे में समा जाते हैं। कभी-कभी साम्राज्यवाद के दो रूप हो जाते हैं। घरेलू जो प्रजातन्त्र की बात करता है, और औपनिवेशिक जो फासिज्म में परिणत हो जाता है। इन दोनों में औपनिवेशिक रूप मुख्य है, और आखिर उसीका बड़ी-बड़ी नीतियों पर हाथ है। इसलिए हम देखते हैं कि ब्रिटेन में कोई भी सरकार हो, चाहे वह कंजरवेटिव हो या लेबर या नेशनल, हिन्दुस्तान में तो उसका रूप फासिस्ट ही रहेगा। हिन्दुस्तान में फासिज्म की तरफ रफ्तार अभी जारी है और नया विधान प्रान्तों में प्रजातन्त्रीय रूप होते हुए भी सिद्धांत और शायद व्यवहार में निश्चित ही फासिस्ट है—खास तौर पर फैडरल रूप में प्रजातन्त्रीय हिस्सा तो उसका सिर्फ प्रांतों में बड़ा निर्वाचक-समूह है। इस निर्वाचक-समूह ने नये कानून के रद्द करने की घोषणा की है; लेकिन कानून और विधान चल रहे हैं और नये विधान के अन्तर्गत जो बहुत-से आदमी चुने गये हैं, वे शक्तिहीन हैं और कुछ नहीं कर सकते।

साम्राज्य और प्रजातन्त्र दोनों परस्पर-विरोधी हैं। एक-दूसरे को हड़प कर जाता है। और आज-कल की दुनिया की राजनीतिक और सामाजिक हालतों में साम्राज्य को या तो अपने को समाप्त कर देना चाहिए या फासिज्म की ओर बढ़ जाना चाहिए। और फासिज्म की तरफ बढ़ने में अपनी घरेलू व्यवस्था को भी साथ ले लेना चाहिए।

यहाँ आकर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ब्रिटिश घरेलू-नीति से बहुत निकट सम्बन्ध हो जाता है और साम्राज्यवाद घरेलू नीति को चलाता है। जब तक साम्राज्य का बोलबाला है तब तक ब्रिटेन में कोई खास सामाजिक परिवर्तन हो सकेगा, ऐसा विचार भी नहीं किया जा सकता और न विदेशी नीति में ही किसी खास तब्दीली की आशा की जा सकती है।

यह अधिक संभव दिखाई देता है कि हिन्दुस्तान में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ होंगी जिससे साम्राज्य का अन्त हो जायगा, और इससे ब्रिटेन में भारी परिवर्तन होंगे। यह भी हो सकता है कि दोनों साथ-ही साथ हों।

इसलिए स्पेन की लड़ाई के पीछे प्रजातन्त्र और हर जगह आजादी की ताकतों तथा फासिज्म और साम्राज्यवाद का तमाम दुनिया का संघर्ष है। यही सबक है जो आज स्पेन अपने दुःख रक्त, और पीड़ा से हमें सिखाता है।। स्पेन के अभिभावकों को तमाम बातों के साथ इस सबक को सीखना चाहिए और दृढ़ता से खड़े होकर फासिज्म और साम्राज्य तथा उनके साथ की अन्य बातों का अन्त कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। मुसीबत को हमें समूल नष्ट करना चाहिए।

लेकिन जब हम तर्क और बहस-मुबाहिसे में लगे हैं, स्पेन में खून बह रहा है और वीर पुरुष, स्त्री और बच्चे तक लड़ाई में जुट रहे हैं— मनुष्य जाति की स्वाधीनता के लिए अपनी जानें झोंक रहे हैं। सरकार उन्हें उतनी मदद नहीं दे रही है जो उन्हें मिलनी चाहिए, लेकिन मदद के लिए उनकी पुकार को दुनिया भर के आदमियों ने सुन लिया है और मदद भी उन्हें दी है, क्योंकि स्पेन की पुकार हर जगह के शोषितों की पुकार है।

हिन्दुस्तान में हम खुद विवश हैं। जहाँ देखो वहीं क्षुधा और गरीबी से पीड़ित लोग हमें दिखाई देते हैं। हम अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं और साथ ही उस साम्राज्य से छुटकारा पाने के लिए, जो हमारा शोषण करता है, हमें कुचलता है। अकाल, बाढ़ और प्राकृतिक प्रकोप भी हमारे पीछे लगे रहते हैं। और साम्राज्य के बोझ को और भी भारी कर देते हैं। लेकिन अपनी भूख और गरीबी के होने हुए भी जो सहायता हम अपने स्पेन के साथियों को भेज सकते हैं, भेजेंगे। वह सहायता चाहे काफी न हो, लेकिन उसके साथ हिन्दुस्तानियों की सच्ची शुभ कामनायें होंगी, क्योंकि जो खुद मुसीबत उठाये हुए होते हैं, वे दुःख से पीड़ित भाइयों का दुःख अधिक महसूस कर सकते हैं।

२७ मार्च १९३७।

: १२ :

फ़ासिज्म और कम्युनिज्म

हिन्दुस्तानी अखबार मेरे ऊपर बड़े मेहरबान रहे हैं और उन्होंने मेरा बड़ा खयाल रखा है। और अपनी राय के प्रचार के भी बहुत-से मौके उन्होंने मुझे दिये हैं। मैं इसके लिए उनका अहसानमन्द हूँ। लेकिन कभी कभी वे मुझे सदमा भी पहुँचाते हैं। बहुत बड़े सदमे जो हाल ही में मुझे पहुँचे हैं, उनमें एक सदमा आज का है, जो मुझे दिल्ली में कुछ मुलाकातियों की मुलाकात की रिपोर्ट से पहुँचा है। सबसे पहले दिल्ली के 'नेशनल काल' ने उसे छापा। उसे पढ़कर मुझे ताज्जुब हुआ कि मैंने जो कुछ कहा था, उसकी कैसी-कैसी बातें बना ली गई हैं। बम्बई का 'फ्री प्रेस जनरल' तो कुछ कदम और आगे बढ़ गया और सात कालम के शीर्षक में उसने लिखा कि मैंने अपने भेद को जाहिर कर दिया और कहा कि कम्यूनिज्म से फासिज्म को मैं ज्यादा पसंद करता हूँ। मैं नहीं जानता कि अबतक मैंने कोई बात छिपा रखी थी। पिछले तीन महीनों में मेरी यही कोशिश रही है कि लिखकर और व्याख्यान देकर जितनी सफाई के साथ मैं अपने विचारों को जाहिर कर सकता हूँ, कर दूँ। वे विचार चाहे गलत हों या सही हों लेकिन मैंने तो कम-से-कम यही उम्मीद की थी कि वे बिल्कुल स्पष्ट हैं और कोई भी उनके बारे में गलती नहीं कर सकता। मुझे बड़ा सदमा हुआ है और मायूसी हुई है कि जो मैं यकीन करता था और जो मेरा मतलब था, ठीक उससे उलटा मतलब उसका लगाया गया है।

दिल्ली के मुलाकात की रिपोर्ट में इतनी गलतियाँ और झूठी बातें हैं कि उसे नये सिरे से दोबारा ही लिखा जा सकता है। सुधार की उसमें गुंजाइश नहीं है। दोबारा मैं लिखना नहीं चाहता। मैं जो विश्वास करता

हूँ, उसमें दिलचस्पी रखनेवालों से मैं यही कहूँगा कि वे उस विषय पर लिखी हुई मेरी रचनाओं को पढ़ें। लेकिन फासिज्म और कम्युनिज्म के बारे में अपना रुख साफ कर देना चाहता हूँ। मैं मानता हूँ, आज जरूरी तौर पर दुनिया की पसन्दगी कुछ-कुछ कम्युनिज्म और कुछ-कुछ फासिज्म के बीच में है; लेकिन मैं तो एकदम कम्युनिज्म को पसन्द करता हूँ। फासिज्म मुझे बेहद बुरा लगता है और वास्तव में मैं नहीं सोच सकता कि किसी भी तरह से अपने को कायम रखने के लिए वह मौजूदा पूंजी-वादी संस्था की बेतरतीब और हैवानी कोशिश के अलावा और कोई चीज है। फासिज्म और कम्युनिज्म के बीच का रास्ता कोई नहीं है। दोनों में से एक को ही पसन्द करना होगा। और मैं तो कम्युनिस्ट आदर्श को पसन्द करता हूँ। जहांतक उस आदर्श के तरीकों और उसके पास पहुँचने का सम्बन्ध है, हो सकता है कि कट्टर कम्युनिस्ट जिन बातों को मानते हैं, उन्हें मैं न मानूं। मेरा खयाल है कि तरीकों को बदलती हुई हालतों के मुताबिक अपने को बनाना होगा। भिन्न-भिन्न मुल्कों में वे जुदा-जुदा हो सकते हैं; लेकिन मेरे खयाल से कम्युनिज्म के बुनियादी विचार और उसकी तवारीख की वैज्ञानिक व्याख्या ठीक है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि मैंने अपने विचारों को साफ कर दिया है। सिर्फ खराब दिमाग का आदमी ही अपनी बात की मुखालफत करेगा, जैसी मुखालफत मुलाकात की रिपोर्ट में दिखाई गई है। वह आदमी पागल ही होगा जो एक दिन कम्युनिज्म को पसन्द करेगा और दूसरे दिन फासिज्म को। मेरा न तो दिमाग खराब है, और न मैं पागल हूँ। मुझमें तो समझ भी है और शायद मैं गम्भीर भी हूँ।

१८ दिसम्बर १९३३।

: १३ :

कांग्रेस और समाजवाद

समाजवाद भला हो या बुरा, सुदूर भविष्य का एक सपना मात्र हो या इस जमाने की अहम समस्या; पर इतना तो जरूर है कि इसने आज हम हिन्दुस्तानियों के दिमाग में एक अच्छी जगह कर ली है। इस शब्द को काफी खींचातानी हुई है और हमसे जोर देकर कहा जाता है कि इसमें हिंसा की बू है या इसके पीछे कम्युनिज्म की छाया है।

सच तो यह है कि समाजवाद क्या है, यह बहुतेरे आलोचकों की समझ में ही नहीं आया है। उनके दिमाग को इसकी एक धुंधली तस्वीर ही नजर आती है। पेशेवर अर्थशास्त्री भी, सरकारी प्रचारकों की तरह, इसमें ईश्वर और धर्म को घसीटकर या विवाह और स्त्रियों के चरित्र-भ्रष्ट होने की बातें कहकर इसकी असलियत को खराब कर देते हैं। हमें इसके लिए उलाहना नहीं देना है, हालांकि ऐसे लोगों को, जो कहें कि हम अच्छी तरह पढ़-लिख सकते हैं, वर्णमाला समझना एक झंझट का काम है। आश्चर्य तो यह है कि इस तरह की बातें, समाजवाद के बारे में यह गर्जन-तर्जन, वे करते हैं, जिन्हें यह पसन्द नहीं, जो इस शब्द को कोष में भी रहने देना नहीं चाहते, जो इस विचार-धारा के विरोधी हैं।

समाजवाद तो—जैसा कि हरेक स्कूली छात्र को जानना चाहिए—एक ऐसे आर्थिक सिद्धान्त का नाम है जो मौजूदा दुनिया की उलझनों को समझने और उन्हें सुलझाने की कोशिश करता है। यह इतिहास समझने का नया दृष्टिकोण और उससे मानव-समाज को संचालित करनेवाले नियमों को ढूंढ निकालने का नया तरीका भी है। दुनिया की एक काफी तादाद के लोग इसमें विश्वास करते हैं और इसे कार्य रूप में परिणत करना

चाहते हैं। प्रशान्त महासागर से बाल्टिक सागर तक फैला हुआ प्रशान्त भूखण्ड तो इसके अधीन हो ही गया है, साथ ही फ्रांस स्पेन जैसे दूसरे-दूसरे मुल्क भी इसकी परिधि तक पहुँच गए हैं। इस समय दुनिया में शायद ही ऐसा कोई देश होगा, जहां इसके पक्के अनुयायी काफी तादाद में न हों। इसके सिद्धान्त को माननेवाले किसी पर खामखाह इसकी सचाई मढ़ना नहीं चाहते; लेकिन वे हम हिन्दुस्तानियों से इतनी आशा तो जरूर करते हैं कि हम इसपर गौर के साथ निष्पक्ष होकर मनन करें। वे हमसे जानना चाहते हैं कि हम अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को किस तरह हल कर सकते हैं। इसपर सोचने के बाद हमें हक है कि हम इसे एकदम अस्वीकार कर दें या अगर सोलहों आने कबूल न करें तो कम-से-कम कुछ सबक तो सीखें। जो आन्दोलन दुनिया के करोड़ों दिलों और दिमागों पर कब्जा किए हुए है, उसकी तरफ से एकदम आंखें बन्द कर लेना अक्लमन्दी का रास्ता तो न होगा।

लेकिन हां, यह कहना सही है कि इस समय राजनीतिक समस्या ही प्रमुख चीज है। बिना आजादी के समाजवाद या हमारे आर्थिक संगठनों के आमूल परिवर्तन की बात बिलकुल थोथी, सिर्फ खयाली पुलाव है। समाजवाद पर किसी तरह का बहस व मुबाहिसा करने से गड़बड़ मच जाती है और हम काम करने वालों में फूट पैदा हो जाती है। राजनीतिक आजादी पर ही हमें अपनी ताकत केन्द्रित करनी चाहिए। यह दलील गौर करने लायक है; क्योंकि हमारी कोई हरकत ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिया गया हमारा संयुक्त मोरचा टूट जाय और हम कमजोर पड़ जायँ। कट्टर-से-कट्टर समाजवादी भी कुछ हद तक इस बात को मानता है; क्योंकि वह समझता है कि इस समय राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा सबसे पहला और जरूरी मकसद है। दूसरी-दूसरी चीजें तो इसके बाद आप-से-आप खुद चली आयँगी। बगैर इसके दूसरा ठोस परिवर्तन हो नहीं सकता।

इस तरह हमारे लिए एक बड़ा 'कामन ग्राउण्ड' है। राष्ट्रीयता

हमारी सबसे पहली आवश्यकता और चिन्ता है, यह तय है; लेकिन फिर भी इस सम्मिलित लक्ष्य को देखने का तरीका भी एक नहीं है।

कोई नहीं चाहता कि हम कार्यकर्त्ताओं में फूट पैदा हो जाय। यह तो सभी हमेशा से कहते आ रहे हैं कि हम अपने शक्तिशाली दुश्मन से संयुक्त मोर्चा लें; लेकिन हम यह कैसे भुला सकते हैं कि हमारे अन्दर परस्पर स्वार्थों के संघर्ष मौजूद हैं और जैसे-जैसे हम सियासी तरक्की करते जाते हैं, समाजवाद और आर्थिक बातें तो दूर रहीं, हमारे ये संघर्ष ज्यादा साफ होते जाते हैं। जब कांग्रेस गरमदल वालों के हाथ में आई तो नरमदल वाले हट गये। इसका सबब आर्थिक पहलू नहीं था; बल्कि जब हम राजनीतिक प्रगति में बहुत आगे बढ़ने लगे और नरमदलवालों ने समझकर या बिना समझे देखा कि इतना आगे बढ़ना उनके स्वार्थ के लिए खतरनाक साबित होगा, तो वे अलग हो गए। ताज्जुब की बात तो यह है कि बावजूद इसके कि हमें अपने कुछ पुराने साथियों से जुदा होने पर बहुत अफसोस होता, इससे कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। कांग्रेस ने एक दूसरी बड़ी तादाद को अपने अन्दर खींच लिया और वह एक अधिक शक्तिशाली और ज्यादा प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था हो गई। इसके बाद असहयोग का जमाना आया और फिर कुछ आदमी बहुमत के साथ लम्बी छलांग मारने में असमर्थ होगये। वे भी हटे (इस बार भी राजनीतिक बुनियाद पर ही, हालांकि इसकी आड़ में बहुतेरी दूसरी बातें भी थीं) वे हट गये, फिर भी कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। एक बड़ी तादाद में नये लोग इसमें शामिल हुए और अपनी लम्बी तवारीख में पहली बार यह हमारे देहातों में एक जबर्दस्त शक्ति बनी। इस तरह यह पहलेपहल भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली और अपने आदेशों से करोड़ों नर-नारियों को जीवन-मय करनेवाली सिद्ध हुई। यहां जैसे ही हम राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़े, छोटे-छोटे गिरोहों और हमारी विशाल जन-राशि के बीच का पुराना संघर्ष ज्यादा साफ मालूम पड़ा। यह संघर्ष हमने पैदा नहीं किया। इसकी ओर बिना खयाल किये हम आगे बढ़े और इससे

हमारे बल और प्रभाव में तरक्की हुई।

धीरे-धीरे हमारे राजनीतिक आकाश में नये मामलों के नये रंगों का आविर्भाव हुआ। गांधी जी ने किसानों के बारे में आवाज उठाई। उनके नेतृत्व में चम्पारन और खेड़ा में जबर्दस्त आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। यह कोई राजनीतिक चाल नहीं थी, हालाँकि राजनीति का ही कुपरिणाम था, जिससे बचना नामुमकिन था। हमारे आन्दोलन में उन्होंने यह नई उलझन क्यों पैदा की? जनता की भयंकर दरिद्रता का प्रचार वह क्यों करने लगे? हमारे आन्दोलन की गहराई के केन्द्र को बदलने के लिए यह एक नई चर्चा, हमारे रास्ते का नया मोड़ था। वह उसे अच्छी तरह जानते थे और जान-बूझकर हमारी राजनीतिक समस्या के आर्थिक पहलू के लिए लड़े। क्या इसी वजह से और उनके व्यक्तित्व के कारण ही कॉंग्रेस के झंडे के नीचे लाखों व्यक्ति नहीं आ जुटे? तब हम में से हर आदमी 'किसान-किसान' चिल्लाने लगे और वह पीड़ित, कुचला हुआ समाज हमारी तरफ कुछ सान्त्वना और आशा लेकर मुखातिब हुआ।

गांजीजी हिन्दुस्तान के करोड़ों की दरिद्रता पर जोर देने लगे। उसूलन हम यह बात जरूर जानते थे—क्योंकि हमने अपनी आँखों देखा था और दादाभाई, डिग्बी, रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त आदि हमारे पहले के नेताओं ने हमें सिखलाया था। फिर भी यह हम पढ़े-लिखे मध्यमवर्गवालों के लिए किताबों और आँकड़ों की ही चीज थी। गांधीजी ने इसे एक जीता-जागता पहलू बनाया। हमने पहले-पहल भूख से मरते हुए पीड़ित जन-समूह का, अपने देश भारत की भयंकर दरिद्रता का, दर्शन किया। इस भूख और बेकारी को दूर करने के लिए ही उन्होंने चरखे और करघे का पुनरुद्धार करने पर जोर दिया। बहुत-से लोग जो अपने को बहुत अक्लमन्द समझते थे, इसका मखौल करने लगे; लेकिन चरखा, हालाँकि वह गरीबी की समस्या को बहुत ज्यादा सुलझा न सका, बहुतों के लिए एक आधार सिद्ध हुआ। इससे बढ़कर इसके जरिये स्वावलम्बन और सहयोग की भावना जाग्रत हुई, जिसका हममें सबसे ज्यादा अभाव था। हमारे राजनीतिक

आन्दोलन में चरखे का जबर्दस्त हाथ रहा। यहाँ फिर हमने देखा कि हमारी राष्ट्रीय कशम-कश में एक बाहरी चीज, गैर-सियासी मामले, को महत्त्व मिल गया।

कुछ सालों के बाद गांधीजी हरिजन-समस्या पर भी जोर देने लगे। उनकी इस हरकत से सनातनियों के कुछ गिरोह गुस्से में आगये। यह पुराने रिवाजों के प्रतिनिधियों, स्वार्थियों और प्रगतिशील ताकतों के दरम्यान संघर्ष था। फूट के हौए से डरकर गांधीजी ने इस अपने बड़े आन्दोलन को बन्द नहीं कर दिया। यह सीधा राजनीतिक मामला नहीं था, फिर भी उठाया गया, और मुनासिब तौर से उठाया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि काँग्रेस के अन्दर और बाहर स्वार्थ-सम्बन्धी संघर्ष हमेशा से ही आगे आते रहे हैं। ख्वाह यह बात शारदा-एक्ट जैसी समाज-सुधार-सम्बन्धी हो, या बहुत-से गिरोहों से सम्बन्ध रखने-वाली राजनीतिक या मजदूर-किसानों से सरोकार रखनेवाली कोई चर्चा हो, ये स्वार्थों के संघर्ष हमेशा से ही पैदा होते हैं। हमें फूट से बिलकुल बचना चाहिए; पर इसके अस्तित्व को अवहेलना कैसे कर सकते हैं? आखिर, हम इसके लिए कर ही क्या सकते हैं? सोलह साल तक जोर देकर कहते आये कि हम जनता के लिए हैं। इसके बाद हमें एक ही बात देखनी है और वह यह कि इस संघर्ष से जनता का कहाँ तक नुकसान होता है? इस सवाल का जवाब गांधीजी ने अपने गोलमेज कांफ्रेंस (लन्दन १९३१) से एक व्याख्यान में दिया था। उन्होंने कहा थाः—

"सबसे बढ़कर काँग्रेस उन करोड़ों मूक, भूख से अधमरे लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, जो ब्रिटिश भारत या तथाकथित भारतीय भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सात लाख गाँवों में फैले हुए हैं। हरेक स्वार्थ को, अगर वह काँग्रेस की राय में सुरक्षित रखे जाने के काबिल हैं, इन गूंगे करोड़ों किसान-मजदूरों के स्वार्थों का सहायक बनना होगा। इसलिए आप बार-बार कुछ स्वार्थों में परस्पर साफ-साफ मुठभेड़ होते देखते हैं। और अगर कहीं सच्ची विशुद्ध मुठभेड़ हुई, तो मैं बिना किसी

हिचकिचाहट के, कांग्रेस की ओर से, घोषित करता हूँ कि कांग्रेस इन गूंगे करोड़ों किसानों के हितों की खातिर हर तरह के हितों का बलिदान कर देगी।"

किसानों के साथ हमारे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सरोकार ने हमें उनके सुख-दुःख के दृष्टिकोण से ज्यादा-से-ज्यादा सोचने को बाध्य किया। बारडोली, संयुक्तप्रांत और दूसरी-दूसरी जगहों में किसानों के आन्दोलन खड़े हुए। न चाहते हुए भी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को 'स्वार्थों के संघर्ष' की समस्या का मुकाबिला करना पड़ा और अपने किसान मेम्बरों को कौन-सी कार्रवाई की जाय, इसका रास्ता भी बताना पड़ा। कुछ सूबों की सूबा-कमेटियों ने ऐसा ही किया।

सन् १९२९ के गर्मी के दिनों में खुद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपनी बम्बईवाली बैठक में इस समस्या का हिम्मत के साथ मुकाबिला किया और इसके मुतल्लिक मुल्क को एक आदर्श नेतृत्व दिया। अपने राष्ट्रीय आधार के रहते और राजनीतिक स्वतन्त्रता को महत्त्व देते हुए भी उसने जोरदार शब्दों में घोषित किया कि हमारे समाज का वर्त्तमान आर्थिक संगठन हमारी गरीबी के मूल कारणों में से एक है। उसका प्रस्ताव इस तरह का था :—

"इस कमेटी की राय में भारतीय जनता की भयंकर गरीबी और दरिद्रता का कारण सिर्फ विदेशियों द्वारा उसका शोषण नहीं है; बल्कि हमारे समाज का आर्थिक संगठन भी है, जिसे कि विदेशी हुकूमत कायम रखे हुए है ताकि यह शोषण जारी रहे। इसलिए इस गरीबी और दरिद्रता को दूर करने, साथ ही भारतीय जनता की दुरवस्था को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वर्त्तमान आर्थिक और सामाजिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय और घोर विषमता हटाई जाय।"

'क्रान्तिकारी परिवर्तन' ये शब्द जब मैंने, थोड़े दिन हुए, लखनऊ शहर में इस्तैमाल करने का साहस किया तो कुछ लोगों ने समझा कि

कांग्रेस के प्लेटफार्म के लिए ये बिलकुल नये हैं। कांग्रेस के इस दृष्टि-बिन्दु और नीति की आम घोषणा से आगे शायद ही कोई समाजवादी जा सकता है। इसपर भी यह कहना कि कांग्रेस समाजवादी हो गई है, कैसी मूर्खता है। उसने भारतीय जनता को गरीबी और दरिद्रता से ज्यादा-से-ज्यादा संबंध बढ़ाती हुई देखकर महसूस किया है कि सिर्फ राजनीतिक तबादला ही काफी नहीं है, कुछ और आगे जाने की जरूरत है। वह 'कुछ और' मौजूदा आर्थिक और सामाजिक संगठन में परिवर्तन—क्रान्तिकारी परिवर्तन—ही है। वह परिवर्तन कैसा होगा, यह इसने नहीं बताया। और उस वक्त यह स्वाभाविक ही था। इसलिए हमने इसे अनिश्चित और अस्पष्ट ही रख छोड़ा।

कानून-भंग शुरू हुआ। यह राजनीतिक उद्देश्य से एक राजनीतिक आन्दोलन था। हमने देखा, स्वार्थों की मुठभेड़ फिर सामने आई और बड़े-बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों ने आनेवाले परिवर्तन से डरकर अँग्रेजी सरकार का साथ दिया। संयुक्तप्रान्त-जैसे कुछ सूबों में तो किसान-आन्दोलन के सबब से स्वार्थों की मुठभेड़ ज्यादा स्पष्ट थी।

कराची में तो हमारा रास्ता आर्थिक परिवर्तन की तरफ मुड़ा हुआ साफ दीख पड़ा। कांग्रेस इतनी दूर जाने में हिचकिचाती थी; लेकिन वह अपने को रोक नहीं सकी। उसने फिर ऐलान किया :—

"जनता के शोषण का अन्त करने के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का अंग होगा भूख से मरते हुए करोड़ों किसान-मजदूरों की सच्ची आर्थिक स्वतन्त्रता।" इसने गुजारे की मजदूरी ("लिविंग वेज") जैसी चीजों की चर्चा की और ऐलान किया कि राज्य (सरकार) बड़े-बड़े कल-कारखानों, खानों, रेलवे और जहाज आदि का मालिक खुद होगा या उनका इंतजाम करेगा। यह एक समाजवादी प्रस्ताव था, फिर भी कांग्रेस समाजवाद से दूर रही।

इस तरह कांग्रेस घटनाओं के जोर और असलियत के दबाव से आर्थिक पहलू की तरफ बढ़ने को बाध्य हुई। राजनीतिक आजादी के

लिए बड़ी इच्छा रखते हुए भी वह इसे आर्थिक आजादी से जुदा न कर सकी। ये दोनों एक-दूसरे से ऐसे बँधे हुए हैं कि अलग नहीं हो सकते। हमने उन्हें अलग-अलग रखने की और राजनीतिक स्वतन्त्रता पर ही सारी ताकत लगाने की कोशिश की; लेकिन आर्थिक समस्याओं ने इसमें दखल दिया। स्वार्थों के संघर्ष की तरफ से हमने आंखें बन्द कर लीं, फिर भी, राजनीतिक सतह पर भी, ये संघर्ष ज्यादा साफ नजर आते गए। गोलमेज कांफ्रेंस ने अच्छा नजारा पेश किया। सभी भारतीय पूंजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नीचे एक पंक्ति में खड़े हो गए और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए अपने को बलिदान करनेवाली ताकत का एक स्वर में विरोध करने लगे।

कोई बात ज्यादा दिन तक याद नहीं रहा करती। बहुत-से लोग भारत और कांग्रेस का यह आधुनिक इतिहास भूल जाते हैं। कांग्रेस में समाजवाद या समाज की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन जैसे शब्द ऐसे नये नहीं हैं जो पहले कभी सुने नहीं गये हों। स्वार्थों का संघर्ष भी कोई नई चीज नहीं है। फिर भी यह एकदम सच है कि कांग्रेस आज समाजवादी नहीं है। समाजवादी है या नहीं, इसे जाने दीजिए; पर इतना तो जरूर है और बहुत साफ है कि यह पहले से ही ऐसी संस्था नहीं है जो आर्थिक बातों की अवहेलना करके सर्फ राजनीतिक पहलू पर ही सोचे। इन पंक्तियों के लिखते समय किसानों की तकलीफों की जांच करना और उनके लिए कोई कार्यक्रम निश्चित करना इसके प्रमुख कामों में एक है। इसे इसका और दूसरी समस्याओं का मुकाबिला करना ही होगा। और, ऐसा करने में जब कभी स्वार्थों की मुठभेड़ सामने आयगी, जैसी कि हमेशा आया करती है, तो जनता के हितों के आगे उन सबका बलिदान किया जायगा।

यह साफ है कि अपने राजनीतिक पहलू यानी भारत की आजादी पर ही अपनी ताकतों को केन्द्रित करना चाहिए। यह हमारे लिए बेहद जरूरी है। कोई भी ऐसी हरकत, जिससे इसमें धक्का पहुँचे, अवांछनीय और

त्याज्य है। इस बात पर मैं समझता हूँ: कांग्रेस के हर दल के लोगों का एकमत है। फिर यह समाजवाद की चर्चा क्यों?

जैसा कि मैं समझता हूँ यह इसलिए नहीं कि कोई समाजवादी कल्पना करता है कि मुल्क आजाद होने के पहले ही समाजवाद को जगह मिल जायगी। वह तो स्वराज्य के बाद ही तभी जगह पा सकता है जब-कि मुल्क उसके लिए तैयार होगा और बहुमत चाहेगा। पर समाजवादी दृष्टिकोण सियासी कशम-कश में मदद पहुँचाता है। यह हमारे सामने की बातों को साफ कर देता है और हमें अनुभव कराता है कि सच्ची राज-नीतिक स्वतन्त्रता में—सामाजिक जाने दीजिए—क्या-क्या बातें होंगी। 'स्वतन्त्रता' की ही कई तरह से व्याख्या की गई है; लेकिन समाजवादियों के लिए तो इसका एक-ही अर्थ है, और वह है साम्राज्यशाही से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद। इसलिए हमारे राजनीतिक संग्राम के 'साम्राज्यशाही-विरोधी' पहलू पर जोर दिया जाता है और इससे हमारी बहुतेरी कार्र-वाइयों की जांच की जा सकती है।

इसके अलावा समाजवादी दृष्टिकोण (जैसा कि पिछले पन्द्रह सालों से कांग्रेस भिन्न-भिन्न रूपों में करती आ रही है) जोर देता है कि हमें जनता के लिए खड़ा होना चाहिए और हमारी लड़ाई जनता की होनी चाहिए। आजादी के माने होना चाहिए जनता के शोषण का अन्त।

इससे हम समझ सकते हैं कि किस किस्म के स्वराज्य के लिए हम प्रयत्न कर रहे हैं। डाक्टर भगवानदास अर्से से आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि स्वराज्य की परिभाषा हो जानी चाहिए। उनके बहुत-से विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ; लेकिन उनके इस कथन से तो सहमत हूँ कि हमें अब स्वराज्य के बारे में अस्पष्ट अर्थ न रखकर, किस किस्म का 'स्वराज्य' हम चाहते हैं, यह साफ कर देना चाहिए। क्या अंग्रेजों के बाद मौजूदा पूंजीपतियों के ही हाथों में मुल्क का भावी शासन-सूत्र जायगा? स्पष्टतः यह कांग्रेस की नीति नहीं हो सकती है; क्योंकि हमने अक्सर यह ऐलान किया है कि हम जनता के शोषण के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें बाध्य होकर

जनता को शक्तिशाली बनाने का उद्योग करना चाहिए, ताकि भारत से साम्राज्यशाही का अन्त होते ही वह सफलतापूर्वक अपने हाथों में हुकूमत रख सके।

जनता को और उसके जरिये कांग्रेस-संगठन को मजबूत बनाना अपने उद्देश्य के लिए ही जरूरी नहीं है; बल्कि लड़ाई के लिए भी जरूरी है। सिर्फ जनता ही उस लड़ाई को सच्ची ताकत दे सकती है; सिर्फ वही राजनीतिक लड़ाई को आखिर तक लड़ सकती है।

इस तरह समाजवादी दृष्टिकोण हमारी मौजूदा लड़ाई में हमें मदद देता है। यह बेकार किताबी बातों की बहस बढ़ाने और उलझनों से भरे हुए सुदूर भविष्य का सवाल नहीं है, बल्कि अपनी नीति को अभी निश्चित कर लेने का प्रश्न है, ताकि हम अपने राजनीतिक संग्राम को अधिक शक्तिशाली और पुरअसर बना सकें। यह समाजवाद नहीं है। यह साम्राज्यवाद विरोधी बात है। समाजवादी दृष्टिकोण से देखा गया राजनीतिक पहलू है।

समाजवाद इससे और आगे जाता है। उसका ध्येय है पूंजीवाद की लाश पर समाज का निर्माण। यह आज मुमकिन नहीं है। इसलिए कुछ लोगों का इस पर सोचना बेमौके और सिर्फ ज्ञान-वर्धन की बात होगी। लेकिन ऐसा देखना दोषपूर्ण है, क्योंकि ध्येय का स्पष्टीकरण—भले ही उसका हम निश्चय न करें—और उस पर सोचना आगे बढ़ने में मदद करता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल होने के बाद शासन किसके हाथों में आयेगा? क्योंकि सामाजिक परिवर्तन इसपर निर्भर करेगा। और, अगर हम सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं तो उन्हीं को वह 'शासन' कार्य-रूप में लाने के लिए मिलना चाहिए। अगर हमारा उद्देश्य यह नहीं है, तो इसका मतलब होता है हमारा संग्राम 'अपरिवर्तनवादी' पूंजीपतियों का मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए है।

समाजवादी तरीका मार्क्सवादी तरीका है। यह भूत और वर्तमान इतिहास का अध्ययन करने का तरीका है। मार्क्स की महत्ता आज कोई

1053

अस्वीकार नहीं करेगा; लेकिन बहुत कम आदमी अनुभव करेंगे कि उसने घटनाओं का जैसा मतलब लगाया है उससे इतिहास का लम्बा और थकाऊ मार्ग प्रकाशमय होगया, वह कोई आकस्मिक और चमत्कारपूर्ण नई बात नहीं थी। इसकी जड़ें भूतकाल में ही गहराई तक चली गई थीं। वह पुराने ग्रीकों, रोमनों तथा रिनेसाँ (जागृति) के और उसके आगे के विचारकों को मालूम था। उन्होंने इतिहास को आन्दोलन के रूप में समझा और समझा विचारों तथा स्वार्थों के संघर्ष के रूप में। मार्क्स ने इस पुराने दर्शन (फिलासफी) को विज्ञान का आधार देकर विकसित किया और दुनिया के आगे ऐसे सुन्दर ढंग से रक्खा कि लोग मुग्ध हो गए। हो सकता है कि इसमें कोई गलती हो या इधर-उधर कुछ बातों पर ज्यादा जोर डाला गया हो। तयशुदा सिद्धान्तों के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन और इतिहास समझने के एक नए वैज्ञानिक ढंग के रूप में हमें इसे देखना चाहिए। इस व्यर्थ बात को तूल देकर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसने ऐसा जरूर किया है, क्योंकि यह आवश्यक था और लोग इसे भुला देने की तरफ झुक रहे थे, लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताकतों पर ज्यादा जोर दिया है जिनकी वजह से लोगों में जान आ गई है, और घटनाओं को रूप मिला है।

मार्क्स एक ऐसा नाम है, जो उसके बारे में कम जाननेवालों को भयभीत कर देता है। उनके लिए इस सम्बन्ध में एक बहुत आदरणीय और सम्मानित ब्रिटिश लिबरल ने, जो हर्गिज क्रान्तिकारी नहीं हैं, थोड़े दिन पहले जो-कुछ कहा है, वह दिलचस्प हो सकता है। जून १९३१ में लार्ड लोथियन ने लंडन-स्कूल आफ इकनामिक्स के सालाना जलसे के मौके पर अपने भाषण में कहा था :—

"हम लोग बहुत दिन से जो सोचने के आदी हो गये हैं, क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समाज की बुराइयों की मार्क्स द्वारा की गई तजवीज में

कुछ ज्यादा सचाई नहीं है? "मैं मानता हूँ कि मार्क्स और लेनिन की भविष्य-वाणियाँ अत्यन्त कठोर रूप में सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ, जैसी कि वह है, और उसकी हमेशा की तकलीफों की ओर निगाह करते हैं, तो क्या यह साफ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को—अबतक हम जिस हद तक पहुंचने के आदी हो गए हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ—जरूर ढूंढ़ निकालना चाहिए? और जब हम ऐसा करेंगे, तो मैं समझता हूँ, देखेंगे कि मार्क्स की तजवीज बहुत कुछ सही है।"

ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दुस्तान का वाइसराय आसानी से हो सकता है, ऊपर लिखी बातों का स्वीकार कर लेना कुछ महत्त्व रखता है। अपने वातावरण के दबाव और अपनी श्रेणी की द्वेष-भावना के होते हुए भी उसकी तीव्र बुद्धि मार्क्स की तजवीज की तरफ खिंचे बिना न रह सकी। हो सकता है, पिछले पाँच साल में लार्ड लोथियन के विचार बदल गए हों। मैं नहीं कह सकता, १९३१ में उन्होंने जो कुछ कहा उसपर किस हद तक वह आज कायम हैं। लेकिन आज मार्क्स का सिद्धान्त कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने बात तो यह है कि या तो हम फैली हुई बुराइयों से लड़ें या उनके कारणों को ढूंढ़ निकालें। जो लोग बुराइयों के खुद शिकार हैं, वे ज्यादा कर क्या सकते हैं? उन्हें याद रखना चाहिए, वे कुपरिणामों से लड़ते हैं, उनके कारणों से नहीं। वे अन्तर्मुखी आन्दोलन को रोकते हैं; उसके रुख को नहीं बदलते, वे मर्ज को दबाते हैं, दूर नहीं करते।"

वास्तविक समस्या है—परिणाम या कारण? अगर हम कारण ढूंढना चाहते हैं, जैसा कि हमें जरूर चाहिए, तो समाजवादी विश्लेषण उसपर प्रकाश डालेगा। और इस तरह समाजवाद, हालांकि समाजवादी शासन-स्टेट—सुदूर भविष्य का एक सपना हो सकता है और हममें से बहुतेरे उसे भोगने के लिए जिन्दा नहीं रह सकते, वर्तमान समय में खतरे से बचाने वाला प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।

समाजवादी ऐसा ही अनुभव करते हैं, लेकिन उन्हें यह जानना जरूरी है

कि बहुतेरे दूसरे लोग, मौजूदा संग्राम के उनके साथी, ऐसा नहीं सोचते। उन्हें अपने को ज्यादा अक्लमन्द समझकर—जैसा कि कुछ समझते हैं—अपना अलहदा गिरोह नहीं बना लेना चाहिए। वे दूसरे तरीकों से अपना काम निकाल सकते हैं और इससे उनके दूसरे साथी और बहुत अंशों में समूचा देश उनके तरीके से सोचने को जीते जा सकते हैं। क्योंकि हम भले ही समाजवाद के बारे में सहमत या असहमत हैं पर स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर तो एक साथ कूच करते हैं।

१५ जुलाई १९३६।

: १४ :

समाजवादियों से

यह तो आप जानते हैं कि तमाम मसलों पर समाजवादी तरीके से विचार करने में मुझे बेहद दिलचस्पी है। यह ठीक है कि इस समाजवादी तरीके के पीछे जो उसूल हैं उन्हें हम अच्छी तरह समझ लें। उससे हमारे दिमागों की उलझनें दूर होंगी और हमारे काम को भी ध्येय मिलेगा। लेकिन हमारे दिमाग में सवाल के दो पहलू हैं। पहला तो यह कि उन तरीकों को हिन्दुस्तानी हालतों पर कैसे लागू किया जाय? और दूसरे, हिन्दुस्तान की परिभाषा में समाजवाद को किस रूप में रक्खा जाय? अगर हम चाहते हैं कि किसी मुल्क में हमारी बात समझी जाय, तो हमें उसी मुल्क की जुबान बोलनी चाहिए। मैं समझता हूँ यह बात अक्सर भुला दी जाती है। यहाँ पर मेरा मतलब हिन्दुस्तान की जुदा-जुदा जुबानों से नहीं है। उससे ज्यादा मैं तो मन और दिल की जुबान की बात कहता हूँ और उस जुबान के बारे में जो प्राचीन इतिहास और संस्कृति और मौजूदा परिस्थितयों के सम्पर्क से पैदा होती है। जबतक हम ऐसी जुबान में न बोलें कि जिसमें हिन्दुस्तानी भावनायें आजायं तबतक हमारा प्रभाव बहुत कम होगा। ऐसे शब्दों का प्रयोग तो, जिनका हमारे लिए तो मतलब है लेकिन हिन्दुस्तान की जनता में जिनका प्रचार नहीं है, अक्सर बेकार होता है। समाजवाद के तरीकों की यही समस्या मेरे मन को घेरे रहती है। हिन्दुस्तान की परिभाषा में समाजवाद को कैसे समझाया जाय और कैसे वह अपने आशाजनक और प्रेरणात्मक सन्देश को लेकर लोगों के दिलों में घर बनावे।

यही एक सवाल है जिसपर, मैं चाहता हूँ, कि समाजवादी अच्छी तरह गौर करें।

२० दिसम्बर १९३६।

: १५ :

किसान-मजदूर संस्थायें और कांग्रेस

मेरे पास विभिन्न कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों के अनेक पत्र आये हैं, जिनमें यह पूछा गया है कि कांग्रेसमैनों का किसान-मजदूर संस्थाओं के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? इस प्रकार से संघ बनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए या नहीं ? यदि उनको बनाने दिया जाय तो उनका कांग्रेस से क्या सम्बन्ध हो ? कई प्रान्तों में ये समस्यायें पैदा हो गई हैं, इनपर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। कभी-कभी ये समस्यायें पूर्णतया व्यक्तिगत, कभी-कभी प्रान्तीय होती हैं; किन्तु इनके पीछे महत्त्वपूर्ण बातें छिपी होती हैं। स्थानीय समस्यायें जब हमारे सामने आती हैं तो हमें उनके विशेष अंगों तथा उनके साथ जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध है, उनके बारे में भी विचार करना आवश्यक है। इसके साथ ही हमें इन मामलों की तह में जाने के पहले सिद्धान्तों और मुख्य समस्याओं को पूरी तरह से ध्यान में रखना चाहिए।

यह समस्या क्यों पैदा हुई ? यह कुछ व्यक्तियों के प्रयत्न से पैदा नहीं हुई; बल्कि उस हलचल का परिणाम है जिसमें हम फँसे हुए हैं। यह इस बात का चिह्न है कि जनसाधारण में जागृति पैदा होरही है और हमारा आन्दोलन जड़ पकड़ता जा रहा है। यह जागृति कांग्रेस के आन्दोलन से ही पैदा हुई है, अतः इसका श्रेय भी कांग्रेस को मिलना चाहिए। कांग्रेस ने इसके लिए लगातार कोशिश की है। इसलिए अगर कामयाबी मिलती है तो कांग्रेसमैनों को उसे अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए। इस आन्दोलन के साथ कभी-कभी हमारे सामने कठिनाइयां आ जाती हैं, किन्तु फिर भी इसका स्वागत हमें करना ही चाहिए।

ऐसी स्थिति कुदरतन ही थोड़ी-बहुत विषम होती है। कांग्रेस ही

देश की एकमात्र राजनीतिक प्रतिनिधि संस्था है जो आजादी के लिए जद्दो-जहद कर रही है। किसान या मजदूर-संस्थायें तो वर्ग-विशेष की संस्थायें हैं। वे बस अपने वर्ग की उन्नति चाहती हैं। कांग्रेस राजनीतिक बातों को लेकर लड़ती है। श्रमजीवियों की संस्था क्रियाशील और आर्थिक दर्जे पर लड़ती है। दोनों की प्रगतियों में कोई विशेष भेद नहीं होता। साथ ही हमारी जद्दो-जहद बढ़ने के साथ-साथ राजनीतिक जागृति पैदा होती जाती है, इससे दोनों को प्रगतियाँ, बहुत-दूर तक, एक ही-सी रहती हैं। कांग्रेस का जन-साधारण से सम्पर्क है, और कांग्रेस जन-साधारण की सबसे बड़ी संस्था है, इसलिए इसके लिए जनता की यानी श्रमजीवियों किसानों और दूसरों की आर्थिक मांगों के लिए जद्दो-जहद करना जरूरी है। किसान और मजदूर-संस्थायें भी इसके अलावा और कुछ नहीं करतीं। कांग्रेस और मजदूर-संस्थाओं को यह समझाना होगा कि आर्थिक कठिनाइयाँ तबतक हल नहीं हो सकतीं जब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होकर जन-साधारण के हाथों में सत्ता न आ जाय। इस तरह से दोनों में सामंजस्य हो जायगा और साम्राज्यवाद के खिलाफ संयुक्त मोरचा कायम किया जा सकेगा।

हरेक गुलाम देश में राजनीतिक समस्या ही सर्वोपरि होती है। इस कारण कांग्रेस स्वयं ही देश की सर्वोपरि संस्था हो जायगी। किन्तु गत वर्षों की आजादी की जद्दो-जहद के कारण कांग्रेस को यह स्थान पहले ही प्राप्त हो चुका है। आज कांग्रेस अत्यन्त शक्तिशाली हो गई है। उसे जन-साधारण का समर्थन प्राप्त है तथा किसान और मजदूर भी अपने संघों की अपेक्षा उससे ही अधिक प्रभावित होते हैं। कांग्रेस को यह शक्ति केवल अपने राजनीतिक कार्यक्रम की वजह से नहीं मिली; किन्तु उसने जनता की सेवा की, त्याग किया तथा उससे अपना सम्पर्क स्थापित किया। जन-साधारण पूरी तरह समझ गए हैं कि कांग्रेस उनकी आर्थिक तंगी को दूर करना चाहती है। देश के कई स्थानों में कांग्रेस के शक्तिशाली होने का मुख्य कारण यही है।

आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से देखने से पता चलता है कि कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना बेहद जरूरी है जिस काम से वह कमजोर पड़ती है, उससे आजादी की जद्दो-जहद ही कमजोर नहीं पड़ती; बल्कि किसान और मज़दूर-आन्दोलन को भी हानि पहुँचती है। अभी किसान और मजदूर आन्दोलन इतना शक्तिशाली नहीं है कि बिना कांग्रेस के चल सके। इसी तरह से देश की समस्त संस्थायें आज यह कह रही हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्य-विरोधी मोरचा स्थापित किया जाय। कांग्रेस स्वयं ही संयुक्त मोरचा स्थापित करने पर जोर दे रही है।

इन बातों के अलावा कांग्रेस को राष्ट्रीय संस्था ही रहना है, इसलिए यह सदा मजदूरों, किसानों तथा अन्य वर्गों की मांगों के लिए प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। यह मजदूर-संघ या किसान- सभा की तरह का कार्य नहीं कर सकती। जहाँ इसका किसानों से बहुत अधिक सम्बन्ध है वहां यह किसान-सभा की तरह ही काम करती है। कांग्रेस की नीति देश-व्यापी किसान आन्दोलन आरम्भ करने की है और यह सदा ही रहेगी। इसके साथ-ही-साथ जबतक कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस रहेगी और उसमें एकदम कोइ तब्दीली नहीं होगी, तब तक नेतृत्व विशेषतया निम्न मध्य श्रेणी के हाथों में ही रहेगा।

ये तो भविष्य की बातें हैं। हमारा सम्बन्ध तो मौजूदा स्थिति से है। इस समय हमारे सामने ये दो समस्यायें हैं...(१) कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो हमें हमारे उद्देश्य तक पहुँचा सकती है, अतः इसको शक्तिशाली बनाना चाहिए, और (२) जन-साधारण में बढ़ती हुई जाग्रति। यदि इन बातों में एकता हो जाय तो आन्दोलन मजबूत हो जायगा और उद्देश्य की पूर्ति भी हो जायगी। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। यह बात हिन्दू, सिख मुसलमान और ईसाई जन-साधारण पर भी लागू होती है। साम्प्रदायिक मतभेद का इस कार्यक्रम पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम मुस्लिम जन-सम्पर्क की बात कहते हैं; किन्तु यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन

नहीं है जिससे मुसलमानों का ही सम्बन्ध हो। हमारा कार्यक्रम हिन्दू-मुसलमानों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिए एकता ही है। मुसलमानों में कार्य करने के लिए कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हम 'मुस्लिम जन-सम्पर्क' शब्द का प्रयोग करते हैं।

जन साधारण से दो प्रकार से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। एक तरीका तो यह है कि हम उन्हें कांग्रेस का सदस्य बनावें और ग्राम-कमेटियों की स्थापना करें। दूसरा यह है कि किसान और मजदूर-संघों से सम्बन्ध स्थापित करें। हमारे लिए पहला मार्ग ही उचित है। बिना पहले मार्ग को ग्रहण किए दूसरे पर चला ही नहीं जा सकता; क्योंकि दूसरा पहले से सम्बन्धित है। यदि कांग्रेस का जन साधारण से सम्पर्क नहीं होगा तो उसपर मध्यम श्रेणी का प्रभाव होना अनिवार्य है। इस प्रकार वह अपना दृष्टिकोण जन-साधारण का दृष्टिकोण न रख सकेगी। अतः प्रत्येक कांग्रेसमैन का, विशेषतया उसका जो किसान-मजदूरों के हितों को अधिक प्रिय समझता है, यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हें कांग्रेस के सदस्य बनाकर ग्राम कमेटियाँ स्थापित करे।

कुछ दिन हुए इस बात पर विचार किया गया था कि किसान और मजदूर-संघों का कांग्रेस से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय और इसके लिए उन्हें कांग्रेस में प्रतिनिधित्व दे दिया जाय। इसपर आज भी विचार हो रहा है। इसके लिए कांग्रेस के विधान में परिवर्तन करना होगा। मैं नहीं जानता कि परिवर्तन हो सकता है या नहीं और अगर हो सकेगा तो कब? व्यक्तिगत रूप से मैं यह बात मान ली जाने के पक्ष में हूँ। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने जिस बात की सिफारिश की है उसपर धीरे-धीरे अमल होना चाहिए। शुरू में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा; क्योंकि ऐसे संघ जो अच्छी तरह से संगठित हैं, बहुत कम हैं। साथ ही उन्हें अपने से सम्बन्धित करने के लिए कांग्रेस कुछ शर्तें भी रख देगी। इस समय तो यह सवाल ही पैदा नहीं होता; क्योंकि कांग्रेस विधान में इसके लिए स्थान ही नहीं है। यह बहस का सवाल है, इसलिए इस समय हमें इधर अधिक

ध्यान नहीं देना है। जो व्यक्ति इस प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में हैं, उन्हें जानना चाहिए कि परिवर्तन के लिए वे कांग्रेस के बाहर रहते हुए अधिक जोर नहीं डाल सकते। उन्हें इसके लिए मजदूरों और किसानों को अधिक संख्या में कांग्रेस का सदस्य बनाना पड़ेगा। यदि कांग्रेस के बाहर की संस्थाओं में इतनी शक्ति हो जायगी कि वे कांग्रेस को किसी बात के लिए विवश कर दें तो इसका अर्थ होगा कि उनकी कांग्रेस से अधिक शक्ति है। ऐसी दशा में तो उन्हें कांग्रेस से सम्बन्धित होने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। किन्तु ऐसा होना मुमकिन नहीं।

यह सब ठीक है; पर इस समय हमें इससे कुछ नहीं लेना। स्थानीय कांग्रेस कमेटियों और किसान-मजदूर संस्थाओं में सहयोग की भावना बढ़ती जा रही है। कहीं-कहीं दोनों की बेजाब्ता कमेटियाँ भी बनी हुई हैं। अधिकतर इन में काम करने वाले भी कांग्रेस-कार्यकर्त्ता ही होते हैं। इसलिए दोनों के सहयोग में कोई कठिनाई नहीं है। यह बात दोनों में है; किन्तु इसके अलावा चारों ओर इस बात पर जोर भी दिया जा रहा है कि दोनों में सहयोग होना चाहिए और यह है भी बहुत जरूरी।

किसानों और मजदूरों को कांग्रेस का सदस्य बनाने के बारे में ऊपर विस्तार-पूर्वक विवेचना कर ली गई है। अब हमें यह भी विचार करना चाहिए कि मजदूरों और किसानों का स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए या नहीं। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं क किसानों और मजदूरों को अपना संगठन करने का अधिकार पुश्तैनी है। यह एक प्रकार का मौलिक अधिकार है, जिसे कांग्रेस सदा स्वीकार करती रही है। इस सम्बन्ध में किसी भी दलील की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं; बल्कि कांग्रेस तो एक कदम और आगे बढ़ गई है। उसने सैद्धान्तिक रूप में ऐसी संस्थायें स्थापित करने का आश्वासन दिया है।

श्रमजीवी मजदूरों का मामला तो किसानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। मेरी धारणा है कि जो व्यक्ति मजदूर आन्दोलन में दिलचस्पी रखता है, उसे यह मानना पड़ेगा कि मजदूरों का अपने को संगठित करना मुख्य

कर्त्तव्य है। मजदूर-आन्दोलन वर्त्तमान उद्योग-धन्धों का अनिवार्य हिस्सा है। उद्योग-धंधे जितने बढ़ेंगे उतना ही यह आन्दोलन भी बढ़ेगा। कांग्रेस जन-साधारण से सम्पर्क रखने के कारण मजदूर-संघों का कार्य नहीं कर सकती। समय-समय पर मजदूरों की जो समस्यायें और झगड़े उठते हैं, उनका मजदूर-संघ ही निपटारा कर सकते हैं। आजादी की जद्दो-जहद के दृष्टिकोण से मजदूर-संघों का होना भी आवश्यक है; क्योंकि इससे शक्ति बढ़ती है, और जागृति भी पैदा होती है। इसलिए कांग्रेसमैनों को मजदूर-संघों के बनाने में सहायता देनी चाहिए, और जहांतक हो सके, वे दैनिक झगड़ों में भी मजदूरों की सहायता करें। स्थानीय कांग्रेस कमेटी और मजदूर-संघ को सहयोगपूर्वक कार्य करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मजदूर-संघ कांग्रेस के अधीन नहीं हैं और न उसके नियन्त्रण में ही हैं; किन्तु उन्हें यह मानना चाहिए कि राजनीतिक मामलों में कांग्रेस ही नेतृत्व स्वीकार करे। किसी अन्य मार्ग का अवलम्बन करना आजादी की जंग तथा मजदूर-आन्दोलन के लिए घातक होगा। आर्थिक मामलों में तथा मजदूरों की अन्य शिकायतों के सम्बन्ध में मजदूर संघ अपना जो चाहें सो कार्यक्रम रख सकते हैं; चाहे वह कांग्रेस के कार्यक्रम की अपेक्षा अधिक अग्रगामी हो। कांग्रेसमैन भी व्यक्तिगत रूप से मजदूर-संघों के सदस्य या सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार वे उन्हें परामर्श भी दे सकते हैं। किसी कांग्रेस कमेटी को मजदूर-संघ पर नियन्त्रण रखने का यत्न नहीं करना चाहिए। मुझे पता चला है कि हाल ही में एक कांग्रेस कमेटी ने एक मजदूर-संघ की कार्यकारिणी के चुनाव में हस्तक्षेप किया। मेरी राय में इस प्रकार की बातें सर्वथा अनुचित हैं और ऐसा करना यूनियन के साथ अन्याय है। इससे आपस में मनोमालिन्य हो सकता है तथा यूनियन के कार्य में भी बाधा पड़ने की आशंका है। हां, जो कांग्रेसमैन मजदूरों में काम करते हैं, उन्हें मजदूर-संघों के कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अधिकार है।

शहरों के ताँगेवाले, ठेलेवाले, इक्केवाले, मल्लाह, पत्थर तोड़नेवाले, मामूली क्लर्क, प्रेस-कर्मचारी, भंगी इत्यादि को भी अलग-अलग अपने

संघ बनाने का पूर्ण अधिकार है। इन्हें कांग्रेस का सदस्य भी बनाया जा सकता है; किन्तु कुछ इनकी अपनी समस्यायें भी हैं तथा संगठन से ये शक्तिशाली भी होते हैं और इनमें आत्म विश्वास भी पैदा हो । है। बाद में ये कांग्रेस में भी आसानी से कार्य कर सकेंगे। इसका सीधा अर्थ यह होगा कि कांग्रेसमैन इनके सीधे सम्पर्क में हैं और आवश्यकता पड़ने पर इनको सहायता भी देते हैं।

नगरों में जो अर्धमजदूर सभायें और संस्थायें बनती हैं, वे सफल नहीं होतीं क्योंकि उनके हितों में सामंजस्य नहीं होता। उनके कांग्रेस में आने से ही सहयोग पैदा हो सकता है।

किसानों की अहम समस्या रह जाती है। उनकी समस्या हमारी तमाम समस्याओं की बनिस्बत जरूरी है। किसान वर्ग में मैं किसानों की भांति पंजाब तथा अन्य प्रांतों के छोटे-छोटे जमींदार, युक्तप्रान्त और बिहार के किसानों, बंगाल और उडीसा के कृषकों को भी समझता हूँ। इन सबपर एक ही व्यवहार लागू नहीं हो सकता। (उसमें भिन्नता होगी।) इस समय तो मैं कांग्रेस के साथ संस्थाओं के सम्बन्ध पर विचार कर रहा हूँ।

कांग्रेस ने किसानों के संगठन को अधिकारपूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। सैद्धान्तिक रूप से मैंने जो विचार मजदूर-संघों के प्रति प्रगट किये हैं, वे उनपर भी लागू होते हैं किन्तु उनमें फर्क भी है। कारखानों इत्यादि में काम करने वाले मजदूरों को संगठित करना सुगम है; क्योंकि वे एक साथ रहते हैं और कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम करते हैं और उनकी कठिनाइयाँ भी करीब-करीब एक-सी ही होती हैं। किसानों का संगठन करना उनकी बनिस्बत ज्यादा मुश्किल है; क्योंकि वे बिखरे रहते हैं और वे सामूहिक दृष्टि से नहीं सोचते; बल्कि व्यक्तिगत हितों से ही सोचते हैं। कांग्रेस का कार्य करते समय ही हमें इन सब कठिनाइयों का अनुभव हो चुका है और हमने देखा है कि यद्यपि किसानों पर कांग्रेस का ज्यादा-से ज्यादा असर है किन्तु उनमें से कांग्रेस के सदस्य बहुत कम हैं। करोड़ों किसान कांग्रेस पर श्रद्धा रखते हैं; किन्तु सदस्य इसकी बनिस्बत बहुत

ही कम हैं।

जिन गाँवों में कांग्रेस-कमेटियाँ जोरों से काम कर रही हैं, वहाँ किसान-संघ बनाने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि इससे शक्ति का अपव्यय होगा और दोहरा प्रयत्न भी करना पड़ेगा। ग्रामीण कांग्रेस को ही अपनी संस्था समझते हैं। हमने देखा है, कई स्थानों में किसान-आन्दोलन शक्तिशाली होते हुए भी वहाँ किसान-संघों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। जिन गाँवों में कांग्रेस कमेटियाँ ठीक तरह कार्य नहीं कर रही हैं, वहाँ देर या जल्दी से किसान-संस्थायें जरूर उनकी पूर्ति करेंगी। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि किसानों में जागृति पैदा हो रही है और उनमें यह भावना आती जा रही है कि उन्हें इस असह्य दशा से अपना छुटकारा करना चाहिए। यद्यपि इस जागृति का मुख्य कारण आर्थिक तंगी है; किन्तु कांग्रेस के नेतृत्व में जो आजादी की जद्दो-जहद हो रही है; उससे भी उन्हें प्रोत्साहन मिला है और उन्हें बहुत-सी ऐसी बातों का ज्ञान हो गया है जिन्हें वे आज तक निर्जीव प्राणी के समान सहन कर रहे थे। उन्हें संगठन की अहमियत तथा सामूहिक कार्यों की ताकत का भी पता चल गया है। इसलिए वे इंतजार में हैं। अगर कांग्रेस उनकी ओर आकर्षित न हुई तो कोई और संस्था उस ओर जायगी और वे उसका साथ देंगे। लेकिन वही संस्था उनके हृदय में स्थान प्राप्त कर सकती है जो उनकी मुसीबतों को दूर करने का मार्ग उन्हें दिखायगी।

हम देख रहे हैं कि आज ऐसे आदमी भी किसानों का दुःख दूर करने और उन्हें आर्थिक तंगी से मुक्त करने की बात कह रहे हैं जिन्होंने इससे पूर्व कभी भी किसानों की ओर ध्यान नहीं दिया होगा। राजनीतिक प्रति-गामी भी आज किसान-कार्यक्रम की बातें कर रहे हैं। राजनीतिक प्रति-गामियों ने कभी उनको न लाभ पहुँचाया और न पहुँचा सकते हैं; लेकिन इससे हमें यह साफ तौर से मालूम हो जाता है कि आज हवा का रुख किस ओर है। अब हमें गाँवों के उन झोपड़ों की ओर ध्यान देना चाहिए जिनमें हमारे मुसीबतजदा किसान भाई रहते हैं। यदि उनके दुःख दूर न

किए गए तो एकदम भयानक उथल-पुथल मच जायगी। भारत की सबसे बड़ी समस्या यही है अर्थात् किसानों की समस्या ही मुख्य है।

कांग्रेस ने पूरी तरह से इस बात को महसूस कर लिया है। इसलिए राजनीतिक कामों में लगे रहने के बावजूद कांग्रेस ने किसान-कार्यक्रम तैयार किया है। हालाँकि यह कार्यक्रम उनके दुःखों को पूरी तरह खत्म नहीं कर सकता; फिर भी उससे उनका कुछ बोझ हलका होगा। मेरी समझ में कांग्रेस-द्वारा तैयार किया गया किसान कार्यक्रम किसान-संघों द्वारा तैयार किये गए कार्य-क्रम से बहुत भिन्न नहीं है। पर केवल कार्य-क्रम तैयार करना ही काफी नहीं है। किसानों में हमें उस कार्यक्रम को फैलाना चाहिए। उसके आधार पर ही हमें अपनी योजनायें बनानी होंगी। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न योजनायें बनेंगी। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों तथा धारा सभाओं की कांग्रेस-पार्टियों को योजनायें बनानी चाहिए। हम इस कार्यक्रम को इस समय चाहे अमल में न ला सकें; लेकिन समय आने पर उसे अमल में लाने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए।

दूसरे देशों में भी ऐसा ही हुआ है, इसलिए यहाँ भी किसान-संघों का बनाना जरूरी है। जहाँ कांग्रेस कमेटियाँ हैं, उन गाँवों में किसान-संस्थायें नहीं चल सकतीं। जहाँ कांग्रेस कमेटियों का ग्रामीणों से सम्पर्क न हो, वहाँ किसान-संघों का जोर हो जायगा। कुछ भी हो, किसान-संस्थायें बनेंगी ही। हमें सोचना यह है कि उनके प्रति हमारा क्या रुख हो।

हम यह नहीं कह सकते कि किसान-संस्थायें नहीं होनी चाहिए। ऐसा कहना कांग्रेस की निश्चित नीति के खिलाफ होगा। यह उसूलन गलत होगा और इससे मौजूदा आन्दोलन से संघर्ष होगा। मैं यह नहीं कहता कि किसान-सभायें कांग्रेस का एक अंग हों और किसान-सभा का सदस्य बनने के लिए कांग्रेस का सदस्य होना जरूरी हो। किसान-सभाओं को हम अखिल भारत चर्खा-संघ या अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ के रूप में भी नहीं लेना चाहते।

यह बहुत जरूरी है कि किसान-संघों और कांग्रेस में आपस में लड़ाई

न हो। यह दोनों के लिए ही विशेषतया किसान-संघों के लिए, घातक होगा। यदि ग्रामीण अधिक संख्या में कांग्रेस सदस्य होंगे तथा प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता उनके कार्य में दिलचस्पी लेंगे तो आपस के झगड़े की भावना आ ही नहीं सकती और एक प्रकार से वे कांग्रेस का ही एक अंग हो जायेंगी।

इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाइयाँ भी पड़ेंगी और कभी-कभी मतभेद हो जाने का भी डर होगा। हमें इनका सामना करना होगा। हमारी राजनीतिक समस्यायें जितनी वास्तविक होती जाती हैं, उतना ही उनका सम्बन्ध हमारी दैनिक समस्याओं से होता जाता है। समस्याओं का रूप नित्य बदलता रहता है। उनमें विषमता भी उत्पन्न होती रहती है। जीवन ही विषम है, हमें किसी-न-किसी प्रकार इन्हें सुलझाना होगा।

जो बात सैद्धान्तिक रूप से ठीक होती है, वह सदा काम में लाने पर ठीक उतरती हो, ऐसा नहीं है। किसान-संस्थाओं के प्लेटफार्म का उपयोग कभी-कभी कांग्रेस के खिलाफ भी हो जाता है। प्रतिक्रियावादी भी उससे लाभ उठा लेते हैं और कभी-कभी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारियों से असंतुष्ट होकर कुछ व्यक्ति इसका नाजायज फायदा उठाते हैं। कांग्रेस-द्रोही तथा वे व्यक्ति जिनपर अनुशासनात्मक कारवाई की गई है, इन्हें अपना अड्डा बना लेते हैं। मुझे रिपोर्ट मिली है कि किसी जिले में जिला- राजनीतिक कान्फ्रेंस के अवसर पर कुछ दूर पर किसान-सम्मेलन किए गए हैं। कहीं-कहीं जुलूसों और झण्डे के प्रश्न को लेकर भी झगड़ा हुआ है।

इस प्रकार की बातें सर्वथा आपत्तिजनक हैं। समस्त कांग्रेसमैनों को इसका विरोध करना चाहिए। इससे कांग्रेस के उद्देश्य को तो नुकसान नहीं पहुँचता; लेकिन किसानों में गोल-माल हो जाती है। झण्डे के सम्बन्ध में मैं पहले ही लिख चुका हूँ और फिर उसे दोहरा देना चाहता हूँ कि राष्ट्रीय झण्डे का अपमान, चाहे कोई भी करे, सहन नहीं किया जा सकता। हमें लाल झण्डे से कोई शिकायत नहीं। मैं उसकी इज्जत करता हूँ।

लाल झण्डा मजदूरों की जद्दो-जहद की निशानी है। लेकिन उसकी राष्ट्रीय झंडे से होड़ लगाना ठीक नहीं।

कांग्रेस पर किए जाने वाले आक्रमण को हम सहन नहीं कर सकते। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे कांग्रेस को हानि पहुँचाते हैं। इससे मेरा यह मतलब नहीं कि कांग्रेस की आलोचना न की जाय। आलोचना करने की सब को स्वतन्त्रता है। किसी भी संस्था के जीवन की यह निशानी है। ऐसी घटनायें मामूली तौर पर स्थानीय होती हैं और उन पर स्थानीय रूप से विचार होना चाहिए। अगर जरूरत मालूम पड़े तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास इसकी रिपोर्ट भेजी जा सकती है। यदि कोई कांग्रेस-मैन बार-बार कांग्रेस पर छींटे डालने की कोशिश करता है और कांग्रेस की मर्यादा को हानि पहुँचाता है तो उसके मामले पर प्रांतीय कमेटी में विचार होना चाहिए।

इस महान् समस्या को सुलझाने के लिए हमें किसानों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। मेरा विचार है कि हमें किसान-सभाओं के साथ सहयोग कर दोस्ती का सम्बन्ध कायम करना चाहिए और हर तरह से कोशिश करनी चाहिए कि दोनों में आपस में झगड़ा न होने पावे। जिन उसूलों पर हमें चलना है, वे बिलकुल स्पष्ट हैं; लेकिन किसान भी उतने ही मुख्य हैं, और अगर किसान ठीक-ठीक काम करते हैं तो मुसीबतें और झगड़े कम-से-कम होने चाहिए।

२८ जून १९३७।

: १६ :

कांग्रेस और मुसलमान

मैंने कहा था कि जरूरी तौर पर मुल्क में सिर्फ दो दल हैं—सरकार और कांग्रेस। श्री जिन्ना ने अपने वक्तव्य में इसका प्रतिवाद किया है। उन्होंने मुझे याद दिलाई है कि एक तीसरा दल भी है, और वह है भारतीय मुसलमान। अपने व्याख्यान में उन्होंने कुछ बहुत मार्के की बातें कहीं हैं। मैं बिहार में इधर-से-उधर दौड़ रहा हूँ और श्री जिन्ना की तकरीर पर जरूरी गौर करने के लिए मेरे पास वक्त कहां है? लेकिन जो उन्होंने कहा है, वह महत्त्वपूर्ण है और मेरे लिए जरूरी हो गया है कि अपने बेहद व्यस्त कार्यक्रम में थोड़ा-सा समय निकालूं और दिनभर के भारी काम के बाद उसके बारे में कुछ कहूँ।

मुझे दिखाई पड़ता है कि जिन्ना ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही परले सिरे की साम्प्रदायिकता है। बंगाल के इस्लामी मामलों में कांग्रेस के हस्तक्षेप करने पर उन्होंने आपत्ति की है और कहा है कि मुसलमानों को कांग्रेस खुदमुख्तार रहने दे। श्री जिन्ना की यह आपत्ति और मांग बिलकुल वैसी ही बात है जैसी कि हिन्दू-साम्प्रदायवादियों की ओर से भाई परमानन्द ने अक्सर पेश की है। नतीजा देखा जाय तो श्री जिन्ना के कहने का मतलब यह है कि सार्वजनिक विभागों में इस्लामी मामलों में गैर-मुस्लिमों को दस्तन्दाजी करने का कोई हक न हो। राजनीति में, सामाजिक और आर्थिक मामलों में मुसलमान एक दल के रूप में अलहदा काम करें, और दूसरे दलों के साथ वैसे ही व्यवहार करें जैसे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ करता है। ऐसा ही मजदूर-संघ, किसान-संघ, व्यापार, व्यापारी-संघ और ऐसी ही संस्थाओं और कामों में हो। हिन्दुस्तान में मुसलमान वास्तव में एक अलहदा राष्ट्र हैं और जो

इस बात को भूलते हैं, वे 'पाकरूह' के खिलाफ पाप करते हैं और श्री जिन्ना को नाराज करते हैं।

लेकिन ये मुसलमान कौन हैं? सिर्फ वे जो श्री जिन्ना और मुस्लिमलीग के अनुयायी हैं? जब मौलाना मुहम्मदअली कांग्रेस में शामिल हुए थे, श्री जिन्ना बताते हैं कि वह मुसलमानों के खिलाफ लड़े थे। यह तो एक मामूली-सी बात थी कि तब हजारों मुसलमान कांग्रेस के सदस्य थे और लाखों की हमदर्दी उनके साथ थी। सहयोग भी उन्होंने दिया। वे मुस्लिम-लीग के घेरे से बाहर थे और श्री जिन्ना के भी कहने में नहीं चलते थे। इसलिए उन्हें गैर-मुस्लिम माना जा सकता है। इसी तरह श्री जिन्ना के कहने के मुताबिक पंजाब और बंगाल के अहरार और किसान-पार्टी-जैसे ताकतवर मुसलमानी दल भी निश्चय ही मुसलमान नहीं हैं; क्योंकि मुस्लिम-लीग के घेरे से वे बाहर हैं। धार्मिक कट्टरता की यह तो एक नई कसौटी है।

श्री जिन्ना मुसलमानों की बड़ी तादाद के साथ कांग्रेस में हम लोगों से क्या कराना चाहते हैं, यह मैं नहीं जानता। क्या वे चाहते हैं कि हम उनसे इस्तीफा देने के लिए कहें और कहें कि आप घुटने के बल श्री जिन्ना के पास जाइए? और मुसलमान-किसानों और कार्यकर्ताओं से, जो मेरी बातें सुनते आते हैं, मैं क्या कहूँ?

यह तमाम मुझे अजीब और नुकसानदेह सिद्धान्त दिखाई पड़ता है, मुसलमानों के लिए वह बहुत ही बेजा है। उनकी 'तीसरे दल' की बात भी खुशी की बात नहीं है और न वह मुसलमानों के लिए तारीफ की चीज है। इस दल को ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच मुसलमानों का एक राजनीतिक सहायक दल रहना चाहिए था, न कि एक ऐसा दल जो आपस में एक-दूसरे को धोखा दे और सार्वजनिक भलाई को छोड़कर उसकी जगह साम्प्रदायिक फायदा उठाना चाहे।

इन या ऐसी ही साम्प्रदायिक लाइनों पर मैं तो बिलकुल नहीं सोच सकता। श्री जिन्ना से मतभेद रखते हुए मैं तो यह कहूँगा कि ऐसे विचार पुराने और असामयिक हैं। उनका मौजूदा हालतों से और मसलों से,

जो जरूरी तौर पर आर्थिक और राजनीतिक हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म वैयक्तिक मामला है और श्रद्धा का बन्धन भी है। लेकिन धर्म को राजनीतिक और आर्थिक मामलों में ठूँसना तो निरी अज्ञानता है। उससे असली मसले किनारे हो जाते हैं। मुसलमान किसानों और हिन्दू किसानों के हितों में फर्क ही क्या है? और क्या मुसलमान मजदूर, दस्तकार, व्यापारी, जमींदार, और तैयार माल पैदा करनेवाले, हिन्दुओं से भिन्न हैं? उनके बीच में बन्धन तो सबका आर्थिक-हित है और खास तौर से एक गुलाम मुल्क के बारे में वह राष्ट्रीय-हित है। धार्मिक मसले उठें, धार्मिक झगड़े हों। उनका मुकाबिला किया जाय। उन्हें तय किया जाय; लेकिन उनको सुलझाने का तरीका तो यह है कि उनके झगड़े और असर के घेरे पर हद बाँध दी जाय और राजनीति और अर्थशास्त्र में दखल-दराजी करने से उन्हें रोका जाय। राजनीति और आर्थिक मसलों में साम्प्रदायिक विचारों को प्रोत्साहन देना तो प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन देना है और मध्यकालीन युग में पहुँचाना है। यह ठीक नहीं है; क्योंकि इससे असलियत भुला दी जाती है।

आज की असलियत तो गरीबी है, क्षुधा है, बेकारी है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच का संघर्ष है। इन सबपर साम्प्रदायिक रूप से कैसे विचार किया जाय?

यों आज मुल्क में बहुत-से दल है, पार्टियां हैं, अजीबोगरीब आदमी हैं; लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, मौजूदा लड़ाई साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद की है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'तीसरे दलों' और बीच के और अनिश्चित ग्रुपों वगैरा की कोई अहमियत नहीं है। फलस्वरूप उनकी कोई बड़ी ताकत भी नहीं है। चुनाव या ऐसे ही मौके आते हैं तो वे भी काम करने लगते हैं। चुनाव बीतने पर वे भी खत्म हो जाते हैं। कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करती है और उसपर एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। इसी की वजह से सिर्फ कांग्रेस ही एक संगठन है, जिसने हिन्दुस्तान में बड़ा मान पाया है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ

खड़े होने के लिए ताकत और इच्छा पाई है। इस तरह अन्तिम विश्लेषण से पता चला है कि हिन्दुस्तान में आज दो ही ताकतें हैं—ब्रिटिश साम्राज्यवाद और कांग्रेस जो भारतीय राष्ट्रवाद की प्रतिनिधि है। मुल्क में और भी बड़े तबके हैं जो नये सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं; लेकिन वे कांग्रेस से सम्बद्ध हैं साम्प्रदायिक दलबन्दियों को हालांकि कभी-कभी अहमियत दे दी जाती है; लेकिन वास्तव में उनकी असली अहमियत कुछ भी नहीं है।

लेजिस्लेटिव एसेम्बली में एक दल के श्री जिन्ना नेता हैं। उस दल के सदस्यों ने दिखा दिया है कि वे एक दूसरे से और दूसरे दलों से एकदम आजाद हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि उनके बीच कोई सामान्य सिद्धान्त या नीति नहीं है जो उन्हें एक-दूसरे से बांधे रक्खे और जब कोई असली समस्या सामने आती है तो वे अलहदा हो जाते हैं। यही हाल लाजिमी तौर पर साम्प्रदायिक दलों का भी होगा।

डिक्टेटरों और उनके अनुयायियों का यहां सवाल नहीं है। कांग्रेस तो प्रजातन्त्रीय संगटन है जिसकी जड़ें हिन्दुस्तान की धरती में गहरी पैठी हुई हैं। उसका दरवाजा हरेक ऐसे हिन्दुस्तानी के लिए खुला है जो आजादी में विश्वास करता है। कांग्रेस के लिए अहम मसला आजादी का है जिससे हम गरीबी से और लोगों के शोषण से छुटकारा पावें। हो सकता है कि कांग्रेस कभी गलती कर दे; लेकिन वह हमेशा राष्ट्र और राष्ट्रीय आजादी की ही परिभाषा में सोचने की कोशिश करती है। और जान-बूझकर सँकरे या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को दूर रखती है।

मुस्लिम-लीग का आखिर उद्देश्य क्या है? क्या वह हिन्दुस्तान के लिए आजादी पाना चाहती है, और साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहती है? मुझे यकीन है ये बातें वह नहीं चाहती। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें बहुत बड़े नामी मुसलमान हैं; लेकिन उनका सम्बन्ध उच्च मध्यम श्रेणी के ऊंचे भागों से है और मुस्लिम-जनता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। निम्न मध्यम श्रेणी के साथ भी उनके सम्बन्ध बहुत कम हैं। श्री

जिन्ना से मैं यह कहूँगा कि मुस्लिम-लीग के बहुत से मेम्बरों की बनिस्बत मुस्लिम-जनता के सम्पर्क में मैं ज्यादा आता हूँ। उन लोगों की बनिस्बत जो कौंसिल में 'फी सदी' सीटों और स्टेट की नौकरी की बातें करते हैं, मैं उन लोगों की भूख, गरीबी और मुसीबतों को ज्यादा जानता हूँ। पंजाब और दूसरी जगहों पर मेरे भाषण सुनने के लिए मुसलमान ही ज्यादा आए। उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या, 'फी सदी' या पृथक् निर्वाचनों के बारे में मुझसे कुछ नहीं पूछा। उनकी दिलचस्पी तो बेहद मालगुजारी, लगान, कर्ज, आबपाशी, बेकारी तथा और बहुत से बोझों के बारे में थी, जिन्हें वे सिर पर लादे फिरते हैं।

राष्ट्रपति (कांग्रेस के अध्यक्ष) की हैसियत से मुझे देश भर के उन असंख्य मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का गौरव और मौका मिला है जिन्होंने आजादी के जंग में एक बहादुराना हिस्सा लिया है, जिन्होंने आजादी के लिए बड़ी मुसीबतें उठाई हैं और जो कांग्रेस के झंडे के नीचे दूसरों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाए हमारे ऐतिहासिक युद्ध में खड़े रहे हैं। मैं उन बहादुर मुसलमान-साथियों का भी प्रतिनिधित्व करता हूँ जो अब भी हमारी फौजों में आगे खड़े होते हैं और जो पिछले सालों के बोझ और मुसीबतों में भी कांग्रेस के प्रति सच्चे रहे हैं। लोग भूखे हैं, गरीब हैं, उनकी मांग है कि उन्हें रोटी मिले, जमीन मिले और काम मिले। और बहुत-से-बोझ जो उन्हें कुचले डाल रहे हैं, उनसे भी वे छुटकारा चाहते हैं। असह्य दमन से छुटकारे की भावना उनमें है। इन बातों में मैं मुसलमानों और हिन्दुओं, दोनों का प्रतिनिधित्व करता हूँ। मैं सब का प्रतिनिधित्व करता हूँ;क्योंकि कांग्रेस उनका प्रतिनिधित्व करती है। कांग्रेस ने मुझे आदेश दिया है कि मैं उसके सिद्धान्तों को ऊंचा उठाये रहूँ और हमारे देश में फैले अन्धकार और हमारे उत्पीड़ित आदमियों को आशा, शक्ति और रोशनी देने के लिए उसने जो मशाल जलाई है, उसे भी ऊंचा रखूँ।

कांग्रेस हर तरह के सहयोग का स्वागत करती है। उसने साम्राज्य-

वाद के खिलाफ संयुक्त मोर्चा लेने की जरूरत पर भी बार-बार जोर दिया है। वह तो खुशी के साथ मुस्लिम-लीग तथा दूसरे संगठनों को सहयोग देगी; लेकिन इस सहयोग की बुनियाद में साम्राज्यवाद का विरोध और जनता की भलाई होनी चाहिए। उसकी राय में मुट्ठी भर उच्चवर्ग के आदमियों की ऐसी किसी भी संधि या समझौते का सच्चा और स्थायी मूल्य नहीं है जो जनता के हितों को दरगुजर करता है। कांग्रेस तो जनता के साथ है जिससे उसका सम्बन्ध है; क्योंकि सबसे अधिक जनता के हितों से ही उसका सम्बन्ध है। लेकिन कांग्रेस जानती है कि हिन्दू और मुस्लिम जनता साम्प्रदायिक सवालों की ज्यादा परवा नहीं करती। उन्हें तो तात्कालिक और सतत आर्थिक सहायता चाहिए और उसे पाने के लिए राजनीतिक आजादी। इस विस्तृत आधार पर देश के उन सब तत्त्वों का सहयोग हो सकता है जो सामूहिक रूप में मानव जाति का हित चाहते हैं और साम्राज्यवाद से छुटकारा चाहते हैं।

१० जनवरी १९३७।

: १७ :

मजदूर और कांग्रेस

आज दुनिया जिस भारी सामाजिक और आर्थिक संकट में होकर गुजर रही है, उसमें मजदूरों के सामने बड़ा महत्त्वपूर्ण दायित्व है; क्योंकि अनिवार्य रूप से आदर्शवादी नेतृत्व का बोझ मजदूर के ही हाथ रहता है। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय लड़ाई ने सामाजिक भेदों को ढक लिया है और राष्ट्रीय आन्दोलनों को भी ज्यादा-से-ज्यादा आर्थिक और सामाजिक आन्दोलन बनाये दे रही है। दुनियाभर में मजदूरों और स्थापित स्वार्थों में भारी लड़ाई चल रही है, दाव ऊंचे लगे हैं और इसलिए हम न तो अपनी राष्ट्रीय लड़ाई में, न सामाजिक लड़ाई में मामूली परिवर्तन कराकर ही समझौता कर सकते हैं। अगर हमें दुनिया की परिस्थिति से फायदा उठाना है तो हमें पक्का विचार कर लेना चाहिए कि शासन-पद्धति को एकदम पूरी तरह से बदलने के लिए हम लड़ेंगे। और किसी से हमें संतोष न होगा, न और किसी से हमारी समस्यायें ही सुलझेंगी।

आज हिन्दुस्तान में विचारों की कुछ गड़बड़ी फैल रही है। हिन्दुस्तान के पुराने राष्ट्रवादी आदर्श दुनिया की मौजूदा हालतों से मेल नहीं खाते। इसलिए हिन्दुस्तान विचार करने का नया तरीका ग्रहण करने के लिए संघर्ष कर रहा है। यह प्राचीन को बदल कर नये पर आने की कोशिश बड़ा दुख दे रही है और गड़बड़ी पैदा कर रही है; लेकिन कोशिश जारी ही रहनी चाहिए; क्योंकि सिर्फ इसी तरह सामाजिक क्रान्ति के प्रगतिशील आदर्श को लेकर हिन्दुस्तान आजादी की ओर दुनिया की लड़ाई में अच्छी तरह हिस्सा ले सकता है।

ऐसी सामाजिक लड़ाई में मजदूर का ध्यान हमेशा प्रमुख रहा है। इसलिए हिन्दुस्तान के मजदूरों को अपनी सुस्ती छोड़कर उठ बैठना

चाहिए और अपने साथियों को लेकर बहादुरी और विश्वास के साथ परिस्थिति का मुकाबिला करना चाहिए। अपने डरपोक रुख को और मामूली सुधार के लिए माँगों को छोड़ देना चाहिए और अहम मसलों में जो हमारे और दुनिया के सामने हैं, हिस्सा लेना चाहिए। ऐसे अवसर कम ही आते हैं। हिन्दुस्तानियों की आजादी के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और सामाजिक और आर्थिक आन्दोलन को साथ मिलकर चलना चाहिए।

मजदूर उत्पादक मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी वह वर्ग जो भविष्य का आर्थिक और ऐतिहासिक रूप से बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्ग है। इसलिए मजदूर के लिए यह संभव है कि कांग्रेस की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार रखे। उसूलन मजदूर मुल्क का बहुत ही क्रान्तिकारी दल होता है; क्योंकि भविष्य की शक्तियों का वह प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन दूसरे विदेशी शासन के मातहत मुल्कों की तरह, हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय समस्या सामाजिक समस्याओं को ढक देती है और राष्ट्रवाद सामाजिक लड़ाई की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी है। फिर भी दुनिया की घटनायें आर्थिक मसलों को आगे-से आगे लाती जा रही हैं और राष्ट्रीय संस्थायें तक इन्हीं मसलों से प्रभावित हो रही हैं।

मैं स्पष्ट रूप से देखता हूँ कि मजदूरों को ट्रेड यूनियनों में या वैसे ही संघों में बिलकुल अलहदा अपना संगठन करना चाहिए; नहीं तो वह मिले हुए राष्ट्रीय दलों से विलीन हो जायंगे। साथ ही मजदूरों को यह भी महसूस करना चाहिए कि आज मुल्क में राष्ट्रवाद सबसे मजबूत शक्ति है और उसे पूरी तरह से उन्हें सहयोग देना चाहिए। उन्हें आर्थिक मसलों में उसपर प्रभाव डालने की कोशिश भी करनी चाहिए।

मैं कांग्रेस के अलावा मजदूरों की और कोई राजनीतिक पार्टी बनने के उसूलन खिलाफ नहीं हूँ; लेकिन मुझे डर है कि आज ऐसी पार्टी बनने का नतीजा यह होगा कि कुछ व्यक्ति, जो मजदूर की कीमत पर अपने को आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं, मजदूर का शोषण करेंगे।

राष्ट्रीय कांग्रेस, जैसा उसके नाम से पता चलता है, एक राष्ट्रीय संस्था है। उसका ध्येय हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय आजादी हासिल करना है। उसमें बहुत-सी ऐसी श्रेणियां और दल भी शामिल हैं, जिनके वास्तव में विरोधी सामाजिक हित हैं, लेकिन इस वक्त एक सामान्य राष्ट्रीय प्लेटफार्म उन्हें संगठित रख रहा है। पिछले सालो में कांग्रेस का झुकाव समाजवादी कार्यक्रम की ओर हुआ है; लेकिन समाजवादी होने से वह बहुत दूर है।

निजी तौर पर मैं चाहूँगा कि कांग्रेस खूब आगे बढ़े और पूरा समाज--वादी कार्यक्रम ग्रहण कर ले। मैं भी यही मानता हूँ कि आज कांग्रेस में ऐसे बहुत से दल हैं जो विचारों में बहुत पिछड़े हुए हैं और कांग्रेस को आगे बढ़ने से रोकते हैं। यह सब मानते हुए भी, मुझे जरा भी शुबहा नहीं है कि हाल के सालों में कांग्रेस हिन्दुस्तान में कहीं अधिक युद्धशील संस्था रही है। मुझे उन आदमियों पर बड़ी हँसी आती है जो खुद तो कुछ करते-कराते नहीं हैं और कांग्रेस पर दोष लगाते हैं कि वह युद्धशील नहीं है। हमारे बहुत से तथाकथित समाजवादी युद्धशीलता को सिर्फ कहने तक ही या उस पर बढ़-बढ़ कर बातें मारने तक ही सीमित रखते हैं। यह एक भारी खतरे की बात है।

उन कांग्रेसमैनों को जो मजदूरों के मामलों में दिलचस्पी रखते हैं, अपने काम का रास्ता इस प्रकार बनाना चाहिए: वे अलहदा अलहदा मजदूर-संघों में काम करें और अपनी ही एक विचार-धारा और काम का कार्यक्रम बनाने में मजदूरों की मदद करें। वह कार्यक्रम जहां तक हो, युद्धशील हो, चाहे कांग्रेस के कार्यक्रम से आगे हो। राष्ट्रीय कांग्रेस में मजदूरों के कार्यक्रम से मेल रखते हुए आर्थिक-दिशा को रखने की कोशिश करनी चाहिए। अनिवार्य रूप से कांग्रेस का कार्यक्रम, जहां तक विचारों का सम्बन्ध है, उतना आगे नहीं होगा जितना मजदूरों का कार्यक्रम होगा। लेकिन युद्धशील कारवाइयों में सहयोग रखना भी बिल्कुल संभव है।

नवम्बर १९३२।

: १८ :

सरकार की सरहदी नीति

दो महीने से कुछ कम हुए ब्रिटिश सरकार ने स्पेन की सरकार और वहाँ के विद्रोहियों को एक संदेश भेजा था। कहा गया था कि वे दोनों हवाई जहाज से नागरिक आबादी पर बम न बरसायें। यह संदेश स्पेन में लड़ने वाले दोनों दलों के लिए भेजा गया था; लेकिन असल में उसका तात्कालिक कारण यह था कि बास्क मुल्क के कुछ कस्बों पर बम बरसाये गए थे। ये बम अधिकतर जनरल फ्रैंको के मातहत जरमनी और इटली के हवाई जहाजों ने बरसाए थे। कोई सालभर से, जबसे कि स्पेन में विद्रोह शुरू हुआ है और विदेशी ताकतों ने स्पेन पर हमला किया है, तब से उस अभागे मुल्क में फासिस्ट गुट्ट ने जो नृशंसतायें की हैं, उनके हवाले सुनते-सुनते दुनिया परेशान हो गई है। गर्नीका के खुले शहर पर आग लगाने वाले बम बरसाए गए जिससे आठ सौ नागरिकों की जानें चली गईं और शहर का बहुत बड़ा हिस्सा बरबाद हो गया। दुनिया के राष्ट्रों को यह खबर सुनकर भारी धक्का लगा।

ब्रिटिश-सरकार ने इसकी मुखालफत करने और नाराजी दिखाने के लिए एक समाचार भेजा। विदेशी मामलों में समाचार भेजना भर ही अब ब्रिटिश सरकार का मुख्य काम है। और फिर भी तभी उसने खुद हिन्दुस्तान की उत्तरी-पश्चिमी सरहद पर हवाई जहाज से बम बरसाए। जरा सी देर में मौजूदा साम्राज्य की असली सूरत और कायरता दिखाने का यह एक अजीबोगरीब और महत्त्वपूर्ण संयोग था।

एक ही चीज जो स्पेन के लिए विकराल और खूंखार है, वह हिन्दुस्तान या उसकी सरहद के लिए कैसे मुनासिब हो सकती है? औचित्य उसका चाहे जो कुछ हो, पर भयानकता तो भयानकता ही है और

आचरण के कुछ निश्चित मापों को दरगुजर और दूर सिर्फ उस सभ्यता और संस्कृति के खतरे पर ही किया जा सकता है जिसे सालों तक पसीना बहाकर दुनिया ने दुःख सह-सह कर तैयार किया है। दुनिया भर के आदमी इस बात को महसूस करते हैं और हवाई जहाज से नागरिक पर बम बरसाने की नई क्रूरता के खिलाफ अपनी आवाज उठाते हैं। लेकिन फासिज्म और साम्राज्यवाद पर इस चारों तरफ से उठती आवाज का कोई असर नहीं होता। वे दोनों तो जुड़वाँ भाई ठहरे न! बेगुनाह आदमियों की वेदना और सभ्यता का विध्वंस और उस अनमोल चीज का पतन जिसका मनुष्यता पोषण करती है, ये सब उन्हें जरा भी नहीं छूते। उनका हवाई जहाज से बम बरसाना जारी रहता है और आदमियों और औरतों, लड़के और लड़कियों और दूध-पीते बच्चों को नष्ट करना या अपाहिज करना भी बन्द नहीं होता।

लेकिन मनुष्यता को छोड़िए, सरहद पर बम बरसाने की बात पर हम विचार करें। कांग्रेस ने उसकी निन्दा की है, और हरेक अक्लमन्द आदमी को उसकी निन्दा करनी ही चाहिए। बम बरसाने के पीछे जो असली उद्देश्य है सरहद की उग्र नीति, उसकी भी कांग्रेस ने निन्दा की है। हमसे कहा गया है कि ब्रिटिश-सरकार ने बम उन लड़कियों को बचाने और महफूज रखने के लिए बरसाए, जिन्हें भगाकर ले जाया गया था। यह कैसी अजीब बात है कि लड़कियों का भगाया जाना सरकार की सरहदी नीति से मेल खाए, जैसे कि सम्प्रदायवाद हिन्दुस्तान की बड़ी नीति से मेल खाता है। हमें याद आता है कि किस प्रकार मिशनरियों के दुनिया के भिन्न-भिन्न हिस्सों में भगाये जाने से विभिन्न साम्राज्यवादी ताकतों के साम्राज्य फैलने में मदद मिली थी। क्या वैसी ही प्रणाली सरहद में भी काम करती हमें दिखाई देती है?

यह स्पष्ट है, बहस भी उसपर नहीं की जा सकती, कि लड़कियों को भगाकर ले जाना एक वहशियाना, अमानुषिक, काम है और हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। वह सरकार जो इसे नहीं रोक सकती, यही

जाहिर करती है कि वह अयोग्य है। लेकिन राजनीति के नौसिखिये तक के लिए यह भी स्पष्ट है कि हवाई जहाजों से बम बरसाने और फौजी चढ़ाई करने का कोई नतीजा नहीं निकलता जबतक कि उनके पीछे नीति-सम्बन्धी कोई खास कारण न हों। हिन्दुस्तान में वह नीति क्या कर रही है, और क्या है, यह हम सब जानते हैं। पुश्तों से सरकार सरहद से जुटी रही है, जाहिरा तौर से वहां की समस्या को सुलझाने की कोशिश भी उसने की है; लेकिन असल में उसने उस समस्या को और भी बिगाड़ दिया है। पूछा जा सकता है कि इस नाकामयाबी का कारण सरकार की नितान्त अयोग्यता है, या सरकार की उसे सुलझाने की इच्छा ही नहीं है जिससे कि वह लगातार भड़काने वाली बनी रहे और जिससे बार-बार सरहदी कार्रवाइयाँ होती रहें जिनकी अनिवार्य प्रतिक्रिया हिन्दुस्तान की राजनीति पर होती रहे, या दोनों। लेकिन करीब-करीब हरेक आदमी इस बात को मानता है कि सरहद में सरकार की नीति एकदम नाकामयाब रही है।

यह बात देखने में सच है। लेकिन ऐसी बात कह देना तो बहुत ही मामूली बात कह देना है, क्योंकि अंग्रेज मूर्ख नहीं हैं और अपनी साम्राज्यवादी नीतियां बनाने में वे सरहद तक ही नहीं बल्कि आगे तक देखते हैं। पुराने दिनों में उन्होंने अपनी निगाह जार तक फैलाई और उसके बढ़ते हुए राज्य को देखा। अब जार तो चला गया, लौटकर नहीं आयेगा। लेकिन वही आकर्षण अभी बना हुआ है। करीब-करीब हिन्दुस्तान के सरहदों तक फैले सोवियट राज्यों पर निगाह डालते हैं। मध्य-एशिया के इस हिस्से में उन्हें अपने हिन्दुस्तान के राज्य, हिन्दुस्तान के रास्ते और दुनिया में अपने दर्जे के खोने का डर लगा रहता है। भारी संकट में, जो सिर पर खड़ा है, हिन्दुस्तान की सरहद और उसके आस-पास के मुल्कों का एक निश्चित महत्त्व हो सकता है। यह सच है कि सोवियट यूनियन दुनिया के और दूसरे किसी भी मुल्क की बनिस्बत अधिक उत्सुकता से शान्ति चाहती है। यह भी सच है कि सोवियट यूनियन ने इंग्लैंड से दोस्ती करने की भारी कोशिश की है। फिर भी दोनों देशों में कुदरतन वैर तो

बना ही है और संकट आने पर वह साफ दिखाई देने लग सकता है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इंग्लैंड के कर्मचारियों ने छोटे-छोटे हितों और नेकनामी की परवा न करके अप्रत्यक्ष रूप से स्पेन के विद्रोहियों को मदद दी है और यूरोप में नाजी-नीति का समर्थन किया है। अंग्रेजों की विदेशी नीति में और बहुत से विचारों की अपेक्षा कहीं ज्यादा विचार साम्राज्यवाद और फासिज्म के सच्चे सम्बन्ध बनाए रखने का होता है।

इस तरह हिन्दुस्तान की सरहद और उससे आगे के मुल्कों के बारे में सरकार सोचती है कि आनेवाली लड़ाई का मोरचा वहीं होगा और उसकी तमाम नीति लड़ाई के लिए अपने को ताकतवर बनाने की है। यह नीति सरहद की जातियों से शान्ति रखने और सहयोग की नहीं है। वह तो आखिरकार आगे बढ़ने और अधिक-से-अधिक हिस्से पर काबू करने की है, जिससे लड़ाई का मोरचा उनके मौजूदा आधार से कुछ और आगे बढ़ जावे। उनके फौजी विचार राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक बातों को दर-गुजर करके राज्य को बढ़ाकर और इस तरह उसे हमलों से महफूज बनाने की ही परिभाषा में चलते हैं। वास्तव में यह ढंग किसी भी राज्य को अक्सर कमजोर बना देता है। हिन्दुस्तान में गैरफौजी विभागों में भी हम फौजी दिमाग को काम करते पाते हैं; क्योंकि एक गैरफौजी आदमी सोचता है, कि वह खुद विदेशी फौज का उतना ही मेम्बर है जितना कि एक सिपाही।

इन्हीं सबब से सरहद में तथाकथित 'उग्र नीति' चली है; क्योंकि एक उग्र कार्रवाई के लिए यह बहाना काफी अच्छा है जिसका फायदा उठाया जाना चाहिए। इस बुनियाद को लेकर ही हमें सरहद पर और उसके पार की मौजूदा घटनाओं पर विचार करना चाहिए।

यह उग्र नीति लड़ाई की भारी तैयारी ही बन जाती है; क्योंकि भविष्य-वाणी की गई कि वह समय दूर नहीं है, जब महायुद्ध होगा। इस उग्र नीति की तो हम मुखालफत करते हैं, साथ ही लड़ाई की तैयारी के रूप में भी हम उसका विरोध करते हैं। कांग्रेस ने कह दिया है कि हिन्दुस्तान

साम्राज्यशाही लड़ाई में हिस्सा नहीं लेगा और कांग्रेस के इस कथन और नीति पर हमें दृढ़ रहना चाहिए। किन्हीं खयाली कारणों से नहीं; बल्कि हिन्दुस्तान के आदमियों के ठोस और स्थायी हितों और उनकी आजादी के लिए हमें ऐसा करना चाहिए।

इस उग्र नीति का एक पहलू—साम्प्रदायिक—और है। जिस प्रकार साम्प्रदायिकता का कीड़ा साम्राज्यवाद को पोषण पाकर हमारे सार्वजनिक जीवन और हमारी आजादी की लड़ाई को कमजोर करता है और नुकसान पहुँचाता है, उसी तरह से यह उग्रनीति सरहद में उस कीड़े को पैदा करती है और हिन्दुस्तान और उसके पड़ोसियों में मुसीबत पैदा करती है। सरहद में ब्रिटेन की नीति सरहदी जातियों को रिश्वत देकर अपनी ओर मिलाने और फिर आतंकित करने की रही है। यह नीति तो मूर्खतापूर्ण है और उसका नाकामयाब होना जरूरी है। आजाद हिन्दुस्तान की नीति कभी भी उनके बारे में ऐसी नहीं होगी। कांग्रेस ने बार-बार कहा है कि अपने पड़ोसियों से उसका कैसा भी कोई झगड़ा नहीं है और वह उनके साथ दोस्ताना और सहयोग का संबंध कायम करना चाहती है। इस तरह ब्रिटिश-सरकार की उग्र नीति और हमारे इरादों में सीधा संघर्ष पैदा होता है और उससे नई समस्यायें पैदा होती हैं, जिनका भविष्य में हल निकालना मुश्किल होगा। जहाँ तक हो सकता है, हमें ऐसा होने से रोकना चाहिए। इससे हमारे लिए जरूरी होता है कि अपने बुनियादी उसूलों पर हम पक्के रहें और किसी भी दूसरी बात का असर अपने ऊपर न होने दें।

मुझे पूरी उम्मीद है कि अगर हम दोस्ताना तरीके से मिलें, अगर हमको मिलने की आजादी हो, तो सरहद की मुसीबत का खात्मा हो सकता है। सिर्फ एक ही आदमी खान अब्दुलगफ्फारखाँ, जिन से सरहद में हर तरफ प्रेम किया जाता है, सरहद की समस्या को तय कर सकते थे। लेकिन अंग्रेजों के इन्तजाम से वह अपने प्रान्त में घुस भी नहीं सकते। खान अब्दुलगफ्फार खां को भी छोड़िए, मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि कांग्रेस अगर समस्या को सुलझाने की कोशिश करती है तो उसे

कामयाबी मिलेगी। सरहद्दी जातियों के सरदार जल्दी ही इस बात को महसूस करें कि उसके और हमारे हितों में कोई संघर्ष नहीं है और वे लड़कियों के भगाने और आक्रमणकारी हमले करने के अपवादों को खत्म करने में हमारी मदद करेंगे। वे यह भी महसूस करेंगे कि इस रास्ते के अलावा और किसी भी रास्ते से उनकी जो कुछ आजादी है, वह भी खतरे में पड़ जायगी; क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य अपनी उग्र नीति को चलाने के लिए आगे-से-आगे बढ़ने पर कमर कसे हुए है। वे साम्राज्यवाद को उसके काम के लिए मौके देकर उसके हाथों कठपुतली बने हुए हैं और लड़कियों के भगाने और हमले करने में हिस्सा लेकर वे हिन्दुस्तान के साथ गैरदोस्ताना भावनायें पैदा करते हैं।

सरहद में हाल ही में जो घटनायें हुई हैं, उनपर हम विचार करें। पन्द्रह-सोलह बरस की लड़की रामकुँवर किसी के साथ गायब हो गई। यह घटना बिलकुल स्थानीय और वैयक्तिक मामला था और उसकी कोई बड़ी अहमियत नहीं थी; लेकिन एकाएक वह एक खास घटना बन गई है और पड़ौस में उससे साम्प्रदायिक भावनायें भड़क उठीं। म्यूनिसिपल और असेम्बली के चुनावों के लिए खड़े हुए उम्मीदवारों ने उससे नाजायज फायदा उठाया। यह है साम्प्रायिक चुनावों की खासियत! मामला साफ तौर से ऐसा था कि उसे निजी तौर पर तय कर दिया जाता या लड़की की अपनी इच्छा के मुताबिक अदालत से तय करा दिया जाता। ऐसी घटना से न तो हिन्दू धर्म को न इस्लाम को फायदा पहुँचा, नुकसान भी नहीं पहुँचा। अदालत बीच में आई और मजे की बात यह कि रामकुँवर के साथ जाने वाले आदमी को सजा इस जुर्म की बुनियाद पर मिली कि लड़की नाबालिग थी, उसकी उम्र सोलह बरस से कम थी। वह लड़की को जबरदस्ती भगाकर ले जाने का मामला नहीं ठहराया गया। प्रतिवाद में लड़की ने बहुत से वक्तव्य दिये, जैसे कि उन गैरमामूली हालतों में कोई लड़की दे सकती थी।

शायद मामला यहीं खत्म हो जाता; लेकिन असेम्बली के चुनावों ने

उसे और आगे बढ़ा दिया; क्योंकि उम्मीदवारों ने उससे पूरा-पूरा फायदा उठाया। इस घटना से वजीरिस्तान या सरहदी जातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वजीरिस्तान में उस वक्त कुछ मुसीबत पहले से ही उठ खड़ी हुई थी, उसका रामकुँवर के मामले से कोई संबन्ध नहीं था। कुछ अपने ही कारणों से वजीरी ब्रिटिश-सरकार के खिलाफ काम कर रहे थे लेकिन चुनाव के दिनों में रामकुँवर के मामले के प्रचार से खासतौर से साम्प्रदायिक जोश बढ़ गया। उसने वजीरियों पर भी असर डाला और चुनाव खत्म होने पर उसके बड़े बुरे नतीजे निकले। चार हिन्दू लड़कियों को वहां के बुरे चाल-चलनवाले आदमियों की मदद से कुछ वजीरी जबर-दस्ती भगाकर ले गए। ऐसा शायद रामकुँवर का बदला लेने के लिए हुआ। उसके बाद बहुत-सी डकैतियां हुईं।

यह सब, जहां तक मुझे याद है, बन्नू जिले में हुआ। यह एक ध्यान देने लायक बात है कि इसी जिले में असेम्बली के चुनावों के दिनों में कांग्रेस के उम्मीदवारों की बुरी तरह हार हुई। जहां कांग्रेस मजबूत है, वहां ऐसी बात नहीं हुई। सम्प्रदायवाद और मुसीबतें साथ-साथ चलती हैं।

इन लड़कियों के भगाने और डकैतियों से दो बातें साफ निकलती हैं, एक तो देहातों में थोड़ी तादाद में रहनेवाले हिन्दू कुदरतन आंतकित हो गए और होश-हवास खो बैठे। सबसे ज्यादा तो इसलिए घबराए कि उनके मुसलमान पड़ौसियों ने, जिनकी संख्या उस आबादी में बहुत ज्यादा थी, न तो उन्हें मदद दी और न उन्हें बचाया। जो कुछ घटनायें घटीं सो तो घटीं ही, उनसे भी बुरी-बुरी खबरें इधर-उधर उड़ाई गईं।

दूसरी बात यह निकली कि उग्र नीति सामने आई। अब तो उसके लिए बहुत बहाना मिल गया है। अब तो उन्हें आगे बढ़कर लड़कियों को भगाने वाले आदमियों को और बेचारे असहाय आदमियों के यहां डकैती डालने वालों को सजा देनी थी न! इसलिए वे जिन्होंने कमजोरों के रक्षक होने का दावा किया, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की योजनायें पूरी

करने के लिए आगे बढ़े। इधर-उधर उन्होंने मनमाने बम बरसाये और वहां पर बरबादी और मुसीबतें पैदा कर दीं।

अल्पसंख्यक डरे हुए हिन्दुओं पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह आसानी से समझी जा सकती है। पहाड़ी जातियों के गुस्से को भी समझना आसान है, जिन्होंने अपने चारों तरफ बरबादी और मौत देखी और उसका कारण साम्प्रदायिक विवाद माना। उन दोनों के लिए सम्प्रदायवाद की परिभाषा में सोचना और काम करना मूर्खता की बात थी; क्योंकि वे दोनों ही साम्राज्यवाद की उस बड़ी नीति के शिकार थे, जो आदमियों के दुःख की परवा न करके अपना काम करती है। हिन्दुओं के लिए उस सरहदी सूबे में साम्राज्यवाद और उसकी नीति का समर्थन करना मूर्खता और कायरता की हद ही नहीं है; बल्कि अपने लिए बरबादी को न्योता देना है। उस सूबे में बिना अपने पड़ोसियों की मदद और इच्छा के वे न तो रह सकते हैं और न खुशहाल ही हो सकते हैं। गांवों के उन मुसलमान पड़ोसियों के लिए अपनी आँखों के सामने लड़कियों को भगाते हुए और डकैतियां पड़ते देखते रहना, दुनिया के सामने अपने को पतित बनाना है। पड़ोसियों के लिए ऐसा मुनासिब नहीं है। सरहदी जातियों के लिए लड़कियों के भगाने में या हमला करने में कोई मदद देना अपने को बदनाम करना है और अपनी आजादी को खतरे में डालना है।

हमारी नीति साफ है। हम सरकार की इस उग्र नीति का समर्थन नहीं कर सकते; क्योंकि वह बुरी नीति है और वह हमारी आजादी की लड़ाई की जड़ पर ही कुल्हाड़ी मारती है। वह हमारे दोस्तों को हमारा दुश्मन बनाती है। वह लड़ाई की तैयारी है और साम्राज्यवादी नीति है। हवाई जहाजों से बम बरसाने की हैवानियत और अमानुषिकता को हम नहीं सह सकते। सरहदी समस्या पर विचार करने का हमारा तरीका ही दूसरा होगा। उसकी बुनियाद दोस्ती, सहयोग और दूसरों की आजादी की इज्जत करना और उनकी कठिनाइयों का आर्थिक हल निकालने की कोशिश करना होगा।

यह भी इतना ही साफ है कि हम लड़कियों के भगाये जाने, डकैतियां डालने, हमले करने को बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमारी हमदर्दी उन सब पीड़ित लोगों के साथ है और यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। हम महसूस करते हैं कि हम उनकी निश्चित रूप से रक्षा कर सकेंगे अगर हम दोस्ताना तरीके से उनकी समस्या को देखें और साम्प्रदायिक जोश को वे दूर करें। जो इस जोश को बढ़ाते हैं, चाहे हिन्दुओं का चाहे मुसलमानों का, वे न तो हिन्दुओं के दोस्त हैं, न मुसलमानों के। सरहदी सूबे में कांग्रेस ने पहले ही इस बारे में अच्छा काम किया है और यह ध्यान देने की बात है कि हाल की मुसीबत ज्यादातर बन्नू जिले में है, जहाँ पर कि बदकिस्मती से कांग्रेस-संस्था कमजोर है। सरहदी सूबे के कांग्रेस के नेता डा० खान साहब ने पहले ही से एक साफ और बहादुराना रास्ता दिखाया है। मुझे यकीन है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों उसपर चलेंगे। यह हिन्दू या मुसलमानों का सवाल नहीं है, यह हमारे गौरव और नाम का सवाल है। हम किसी धर्म को मानने वाले हों, यह हमारी बुद्धिमानी और अच्छी भावनाओं का और हिन्दुस्तान की आजादी का सवाल है।

२२ जून १९३७।

: १६ :

उचित दृष्टिकोण

(१)

छः सूबों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल कायम हो जाने से हिन्दुस्तान के शान-शौकत से भरे और शासनानुकूल वायुमंडल में एक ताजा हवा की लहर आगई है। नई-नई आशायें उठ खड़ी हुई हैं और जनता की आँखों के सामने आशाओं से भरे सपने चक्कर लगाने लगे हैं। कम-से-कम फिल-हाल तो हम कुछ ज्यादा आजादी के साथ साँस ले रहे हैं। लेकिन हमारा काम अब कहीं ज्यादा जटिल है और खतरे और कठिनाइयाँ कदम-कदम पर हमें परेशान कर देती हैं। हमें ऐसा भ्रम हो सकता है कि ताकत हमारे हाथ में है, जब कि असल ताकत हमारी पहुँच के बाहर है और हम गलत भी चल सकते हैं। लेकिन लोगों की निगाहों में जिम्मेदारी तो हमारी है। अगर हम उसे उनके संतोष लायक नहीं पूरा कर सकते, अगर उनकी आशायें पूरी नहीं होतीं और सपने अपूर्ण रह जाते हैं, तो भ्रम का बोझ हमारा भी होगा। कठिनाई तो यह है कि स्थिति में स्वाभाविक विरोधी बातें हैं। हिन्दु-स्तान की समस्यायें बड़ी हैं, जिनका प्रभावशाली और पूरा पूरा हल मिलना चाहिए और वह मौजूदा हालतों में हमारी ताकत में नहीं है। हमें ठीक दृष्टिकोण को हमेशा सामने रखना है। कांग्रेस का ध्येय, हिन्दुस्तान क आजादी, लोगों की गरीबी को खत्म करना, इन बातों को भी हम आँखों से ओझल नहीं कर सकते। साथ ही हमें छोटी-छोटी बातों के लिए भी परिश्रम करना है, जिससे जनता को तात्कालिक राहत मिले। इन दोनों बातों को सामने रख कर हमें एकसाथ काम करना है।

अगर हमें अपने इस कठिन कार्य में सफलता पानी है; तो जरूरी होगा कि हम अपने लोगों में श्रद्धा रक्खें, उनके साथ खुलकर व्यवहार करें,

उन्हें अपनी कठिनाइयाँ बतावें और यह भी बतावें कि जबतक हमें ज्यादा ताकत मिलती है तबतक हम क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं। जिन सिद्धान्तों को लेकर हम चले हैं, उन्हें हमें अच्छी तरह से देख लेना चाहिए, अपने लंगर का हमें अन्दाज होना चाहिए; क्योंकि इन बातों को भूलने से तो हम मामूली बातों में फँस जायंगे और हमारे सामने रास्ता दिखाने वाला कोई भी नहीं होगा। हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए।

(२)

इसलिए हमारी सारी हलचलें हिन्दुस्तान की आजादी को ध्येय बनाकर होनी चाहिए। कोई भी कांग्रेसी, चाहे वह वजीर हो या गांव का कार्यकर्त्ता, इस बात को नहीं भूल सकता; क्योंकि उसे भूल कर उसका ठीक दृष्टिकोण भी, जो कि हम सबके लिए जरूरी है, दरगुजर हो जायगा। इस आजादी को पाने के लिए हमें नये विधान से पीछा छुड़ाना होगा। इसलिए इसी विधान के मातहत काम करने वाले वजीर हमेशा इसी परिभाषा में सोचेंगे कि इस विधान की जगह एक दूसरा विधान लाकर रखें, जो कि एक राष्ट्रीय पंचायत के जरिये हिन्दुस्तान का बनाया हुआ हो। यही विचार, चाहे वह कुछ समय तक पूरा न हो सके, हरेक वजीर के सामने रहना चाहिए। उस दिशा में दूसरा बड़ा कदम तब लिया जायगा, जब हमारी इच्छा के विरुद्ध हमपर फैडरेशन लागू करने की कोशिश की जायगी। उस कोशिश का हमें असेम्बलियों के भीतर और बाहर मुकाबिला करना होगा और हमें अपनी पूरी ताकत फैडरेशन को अमल में आने से रोकने में लगानी होगी।

वे लोग जिनपर राष्ट्रीय नीति को चलाने की जिम्मेदारी है और जिन्हें हम लोगों का नेतृत्व करना है, उन्हें बड़ी-बड़ी परिभाषाओं में सोचना होता है और हिन्दुस्तान की सरहदों के बाहर भी देखना होता है। अपनी समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में, यानी बड़े संकटों या लड़ाइयों की संभावना में, देखना होता है। कांग्रेस ने ऐसे संकटों के वक्त

के लिए हमारी नीति निर्धारित कर दी है और अगर हमें उस नीति को मानना है, जैसा कि हमें चाहिए, तो हमें इस बात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। हाल ही में जो हमारी हिन्दुस्तान की टुकड़ियाँ शंघाई भेजी गई हैं, उन्हें इसी बात की याद दिलाई जाती है कि हमारे साधनों का उपयोग किस प्रकार साम्राज्यवादी हितों को बनाने के लिए किया जाता है। जबतक हम सतर्क न होंगे तबतक हिन्दुस्तान का शोषण चलता रहेगा, बढ़ता रहेगा। करीब-करीब बिना जाने ही इससे लड़ाई भी हो सकती है। हमारे लिए नहीं; बल्कि साम्राज्यवाद के, जिसको हम हिन्दुस्तान से हटा देना चाहते हैं, हितों के लिए। इसलिए कांग्रेसियों को हिन्दुस्तान में जो कुछ होता है, उसके अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नहीं भूलना चाहिए। हमारे बजारों का इन बड़ी घटनाओं से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से वे उनके सम्बन्ध में आ सकते हैं और उस पर अपना असर डाल सकते हैं।

(२)

कांग्रेस ने बार-बार नागरिक स्वतन्त्रता, विचारों का स्वतंत्र व्यक्तीकरण, स्वतंत्र सम्बन्ध और संगठन, स्वतंत्र प्रेस और आत्मिक और धार्मिक स्वतंत्रता पर जोर दिया है। विशेष अवस्थानुकूल अधिकारों और आर्डिनेंसों और हिन्दुस्तानियों को सताने के लिए विशेष कानून इस्तैमाल करने की हमने निन्दा की है और अपने कार्य-क्रम में कहा है कि इन सब अधिकारों और कानूनों को खत्म करने के लिए जो कुछ किया जा सकता है, हम करेंगे। सूबों में पद-ग्रहण करने से इस नीति में कोई अन्तर नहीं पड़ता और वास्तव में उसे पूरा करने के लिए बहुत कुछ पहले ही से किया जा चुका है। राजनीतिक कैदी छूट गए हैं, बहुत सी संस्थाओं पर से जब्ती हट गई है और प्रेसों की जमानतें लौटा दी गई हैं। यह सच है कि इस बारे में अभी कुछ और होना बाकी है; लेकिन यह इसलिए नहीं है कि कांग्रेस-मंत्रिमंडल और आगे कदम बढ़ाना नहीं चाहते; बल्कि

बहुत-सी कठिनाइयों के कारण हैं। मुझे यकीन है कि इस काम को जल्दी ही पूरा करना मुमकिन होगा और तमाम दमन करने वाले, गैरमामूली प्रांतीय कानूनों को रद कराकर हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करेंगे। इस बीच जनता को उन खास कठिनाइयों को याद रखना चाहिए जिनमें होकर कांग्रेस के वजीरों को काम करना पड़ रहा है, और ऐसे कामों के लिए जिनकी जिम्मेदारी उनकी नहीं है उनपर दोष लगाने के इच्छुक नहीं होना चाहिए।

नागरिक स्वतंत्रता हमारे लिए सिर्फ हवाई सिद्धान्त या पवित्र इच्छा ही नहीं है; बल्कि एक ऐसी चीज है जिसे हम एक राष्ट्र की व्यवस्थित उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक समझते हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसके बारे में लोगों में मतभेद है। उसे सुलझाने का सभ्य और अहिंसात्मक तरीका है। विरोधी मत को जबरदस्ती कुचल देना और उसे अपने को जाहिर न करने देना, क्योंकि हम उसे नापसन्द करते हैं, तो लाजिमी तौर पर ऐसा ही है जैसे कि दुश्मन की खोपड़ी फोड़ देना; क्योंकि हम उसे बुरा समझते हैं। उससे सफलता नहीं मिलती। फूटी खोपड़ी का आदमी तो गिरकर मर सकता है, लेकिन दमन किये गए मत या विचार यों अकस्मात खत्म नहीं हो जाते और ज्यों-ज्यों उन्हें दबाने और कुचलने की कोशिश की जाती है, वे और तरक्की करते जाते हैं। ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। लम्बे अनुभव से हमने सीखा है कि सचाई के हितों में मत और विचारों का दबाया जाना खतरनाक है। उसने हमें यह भी सिखाया है कि ऐसा ख्याल करना भी बेवकूफी है कि हम ऐसा कर सकते हैं। यह कहीं ज्यादा आसान है कि बुराई से खुले-मैदान लड़ा जाय और उसे लोगों की निगाह में ठीक लड़ाई में हराया जाय। बजाय इसके कि उसे धरती के भीतर दबा दिया जाय, उसे बेकाबू छोड़ दिया जाय या उसे ठीक तरीके से न सुलझाया जाय। बुराई दिन की रोशनी की अपेक्षा अन्धेरे में अधिक पोषण पाती है।

लेकिन अच्छाई क्या है और बुराई क्या है, यह तो खुद शुबहतलब

बात है। और तब कौन इस बात को तय करे ? ऐसे निर्णय देने में सरकारें तमाम दुनिया में विशेष योग्य नहीं और सरकारी सेंसरों की भीड़ लगाना भी कोई आकर्षक चीज नहीं है । लेकिन सरकारों की भी भारी जिम्मेदारियां होती हैं और वे जहां पर काम की जरूरत होती है वहां पर किसी सवाल के तत्त्वज्ञान पर बहस नहीं कर सकतीं। हमारी इस अधूरी दुनिया में बड़ी बुराई के सामने हमें छोटी बुराई को स्वीकार करना पड़ता है।

हमारे लिए जिस कार्यक्रम को लेकर हम चले हैं उसी को क्रियाशील बनाने का ही सवाल नहीं है। सवाल तक पहुँचने का हमारा तरीका ही मनोवैज्ञानिक रूप से भिन्न होना चाहिए। वह पुलिसमैन का तरीका नहीं हो सकता जो कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज सरकार का मशहूर है, यानी बल, हिंसा और दबाव का तरीका । कांग्रेस मन्त्रिमंडल को चाहिए कि जहां-तक सम्भव हो, वे तमाम दबाव की कार्रवाइयों को छोड़ दें और अपने आलोचकों को अपने कामों से जीतने की कोशिश करें और जहां सम्भव हो, उन्हें अपने निजी संपर्क से जीतें । अगर अपने आलोचकों को या दुश्मन को बदलने में उन्हें कामयाबी नहीं मिलती, तो भी वे उसे ऐसा तो बना ही देंगे कि वह किसी को नुकसान न पहुँचा सके और तब जनता की हमदर्दी, जो कि अनिवार्यरूप से सरकारी कार्रवाई से दुःखी आदमी के साथ होती है, उसके साथ नहीं होगी। वे जनता को अपनी ओर कर लेंगे और इस तरह ऐसा वायुमंडल पैदा कर देंगे जो गलत कार्रवाइयों के मुआफिक नहीं होता।

लेकिन इस तरीके और दबाव की कार्रवाई को छोड़ने की इच्छा रखने के बावजूद ऐसे मौके आ सकते हैं जब कांग्रेस-मन्त्रि-मंडलों को ऐसा करना ही पड़ता है। कोई भी सरकार हिंसा और साम्प्रदायिक झगड़ों के प्रचार को नहीं बर्दाश्त कर सकती। अगर बदकिस्मती से ऐसा प्रचार होता है तो मामूली कानून की दबाव की क्रियाओं का सहारा लेकर उसे ठीक रास्ते लगाना होता है। हमारा विश्वास है कि पुलिस की निगरानी

या किताबों और अखबारों की जब्ती नहीं होनी चाहिए और मतों और विचारों के व्यक्तीकरण के लिए अधिक से अधिक आजादी दी जानी चाहिए। जिस तरीके से ब्रिटिश सरकार की नीति ने हमें प्रगतिशील साहित्य से दूसरों से अलहदा कर दिया है, उसे सब जानते हैं। इन जब्तियों और निगरानियों से हमें छुटकारा पाना चाहिए और ऐसी स्वतन्त्रता भूमि का पोषण करना चाहिए जिसमें बुद्धिमानों के जीवन फूलें फलें और मूल शक्तियां उपजें। लेकिन फिर भी इस बात को याद रखना चाहिए कि कुछ किताबें और अखबार ऐसे हो सकते हैं जो गन्दे हों, जो हिंसा का प्रचार करें या साम्प्रदायिक घृणा और संघर्ष पैदा करें। उन्हें रोकने के लिए कुछ कारवाई होनी चाहिए।

(४)

बहुत से राजनीतिक कैदियों को, जिन्हें हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा मिली थी, उन्हें लम्बी सजा के बाद हाल ही में कांग्रेस-मन्त्रि मंडलों ने छुड़वाया है। जनता और कांग्रेसमैनों ने उनका स्वागत किया है। हमसे पूछा गया है कि क्या यह स्वागत हिंसा को पसन्द करना जाहिर नहीं करता? ऐसे सवाल से जनता के मनोविज्ञान और कांग्रेसमैनों के दिमागों की अज्ञानता का पता चलता है। जनता ने और कांग्रेसमैनों ने कैदियों का स्वागत किया तो इसलिए कि उन्होंने जेल में बहुत दिनों तक कष्ट उठाये थे। उनमें कितनों ने अपनी जवानी जेल में खत्म की और कितनों ने अडिग रह कर मौत का मुकाबिला किया। उन्होंने गलती की और वे गलत रास्ते पर चले और उन्होंने ऐसी नीति ग्रहण की जो उनके उसी उद्देश्य के लिए हानिकारक थी, जिसकी सेवा वे करना चाहते थे। लेकिन उसका बदला उन्होंने दुःख, तकलीफें सहकर और लम्बे अर्से तक काल-कोठरियों में बन्द रहकर चुकाया। उन्होंने महसूस किया कि उनकी पुरानी नीति एकदम गलत थी। इसलिए जहां कहीं वे गये, जनता ने उनका स्वागत किया और उनके दोस्तों ने उनको बधाइयां दीं। क्या इससे उन

सरकारों को सबक नहीं मिलता जो सोचती हैं कि कुछ लोगों को दबाकर वे समस्या को सुलझा सकती हैं ? इससे वे समस्या को और गम्भीर ही बनाती हैं और जनता की हमदर्दी, जो कि अपराधी के कामों के खिलाफ होती, उसकी पीड़ा के कारण उसी के साथ हो जाती है।

अंडमान के कैदियों की समस्या आज हमारे सामने है और हम देखते हैं कि कैसी ताज्जुब भरी मूर्खता की नीति अख्तियार की गई है, जिसने जनता में जोश भड़का दिया। इस तरह के जिस वायुमंडल को सरकार ठीक करना चाहती है, उसीको उलटा भारी बना देती है।

कांग्रेस ने ठीक ही इससे भिन्न नीति ग्रहण की है;क्योंकि वह जनता की पसन्दगी से आगे बढ़ना चाहती है और इन बहादुर नौजवानों को अपनी ओर मिलाना चाहती है और ऐसा वायुमंडल पैदा करना चाहती है जो कांग्रेस के कार्यक्रम के मुआफिक हो। उस मुआफिक वायुमंडल में गलत प्रवृत्तियां खत्म हो जायँगी। हिन्दुस्तान की राजनीति में हर कोई इस बात को जानता है कि आतंकवाद हिन्दुस्तान के लिए पुरानी बात हो गई है। वह और जल्दी खत्म हो जाता, अगर बंगाल में सरकार की जैसी नीति रही, वह न रही होती। हिंसा का खात्मा हिंसा से नहीं होता; बल्कि भिन्न तरीके से, हिंसा कराने के कारणों को दूर करने से, होता है।

हमारे इन साथियों पर, जो इतने बरसों की जेल की जिन्दगी बिताकर छूटे हैं, एक खास जिम्मेदारी है कि वे कांग्रेस की नीति के प्रति सच्चे रहें और कांग्रेस के कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए काम करें। उस नीति का आधार अहिंसा है और उसी मजबूत नींव पर कांग्रेस की ऊंची इमारत खड़ी हुई है। यह जरूरी है कि कांग्रेसमैन इस बात को याद रखें; क्योंकि वह अबतक जितनी महत्त्वपूर्ण रही है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वह आज है। बेकार की बातें जो हिंसा को और साम्प्रदायिक झगड़ों को प्रोत्साहन देती हैं, मौजूदा अवस्था में खासतौर से हानिकारक हैं और वे कांग्रेस के ध्येय को ही भारी नुकसान पहुँचा सकती हैं और कांग्रेस-मंत्रिमंडलों को परेशान कर सकती हैं। राजनीति में

बच्चे नहीं हैं, अब हम आदमी की अवस्था में आ गए हैं और हमारे सिर पर बड़ा काम है, मुकाबिला करने के लिए बड़े-बड़े झगड़े हैं, दूर करने के लिए बड़ी-बड़ी मुश्किलें हैं। आदमियों की तरह हमें हिम्मत और गौरव और अनुशासन के साथ उनका मुकाबिला करना चाहिए। हम केवल एक बड़ी ऐसी संस्था द्वारा ही अपनी समस्याओं का मुकाबिला कर सकते हैं जिसके पीछे जनता की स्वीकृति हो। और जनता की बड़ी-बड़ी संस्थायें अहिंसात्मक तरीकों से ही बनती हैं।

(५)

हिन्दुस्तान की बुनियादी समस्यायें किसानों और मजदूरों के सम्बन्ध में हैं। इन दोनों में किसानों की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। कांग्रेस-मन्त्रि-मण्डलों ने इसे सुलझाने की पहले से ही कोशिश शुरू कर दी है और जनता को अस्थायी राहत देने के लिए शासन-संबंधी हुक्म जारी हो गए हैं। इस मामूली बात से भी हमारे किसानों को बड़ी खुशी हुई है, आशायें हुई हैं, और अब वे बड़ी-बड़ी तब्दीलियों के लिए आंख लगाये बैठे हैं। इस स्वर्ग के आने की आशा में कुछ खतरा है; क्योंकि ऐसा तात्कालिक स्वर्ग अभी है नहीं। कांग्रेस-मन्त्रि-मण्डल दुनिया में अच्छी-से-अच्छी इच्छा लेकर भी सामाजिक व्यवस्था और मौजूदा आर्थिक पद्धति को बदलने के अयोग्य हैं। सैकड़ों तरीकों से उनके हाथ-पैर बँधे हैं और उन पर रोक-थाम है और उन्हें उस तंग दायरे में चलना पड़ता है। वास्तव में नये विधान की मुखालफत करने का हमारा यही खास कारण था; और है। इसलिए अपने आदमियों के साथ हमें बिलकुल खुला होना चाहिए और उन्हें बता देना चाहिए कि मौजूदा हालतों में हम क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं। काम न कर सकने की हमारी असमर्थता ही इस बात की जबरदस्त दलील होगी कि बड़ी-बड़ी तब्दीली होने की जरूरत है और उसीसे हमें असली ताकत मिलेगी।

लेकिन इस बीच में जहाँतक किसानों को हम राहत दे सकते हैं, हमें

देनी होगी। इस कठिन परीक्षा का हमें हिम्मत से सामना करना होगा। स्थापित स्वार्थों से और हमारे रास्ते में रुकावट डालने वालों से हमें नहीं डरना चाहिए। कांग्रेस-मन्त्रि मंडलों की सफलता तो तभी मानी जायगी जब वे किसानों के कानून को बदल देंगे और किसानों को राहत देंगे। कानूनों में यह तब्दीली असेम्बलियों और कौंसिलों द्वारा होगी; लेकिन अगर असेम्बलियों और कौंसिलों के कांग्रेस सदस्य अपने हलकों के निकट-सम्पर्क में रहें और अपनी नीति वहाँ के किसानों को बताते रहें तो उस तब्दीली का मूल्य कहीं ज्यादा होगा। असेम्बलियों और कौंसिलों को कांग्रेस-पार्टियों को भी कांग्रेस-कमेटियों और आम-तौर पर जनमत के साथ सम्पर्क रखना चाहिए। इस खुले तरीके से जनता का सहयोग मिलेगा और स्थिति की असलियतों से भी सम्पर्क रहेगा। इस तरह जनता को जनतन्त्रीय ढंग से शिक्षा मिलेगी; और उस पर अनुशासन रहेगा।

धरती-सम्बन्धी कानूनों में तब्दीली होने से हमारे किसानों को राहत मिलेगी; लेकिन हमारा ध्येय बहुत बड़ा है और उसके लिए जरूरी है कि किसानों की संगठित ताकत बढ़े। अपनी ताकत से ही वे आखिर अपने ऊपर आरूढ़ स्थापित स्वार्थों के आगे बढ़ सकते हैं और उनका मुका-बिला कर सकते हैं। ऊपर से गरीब किसानों को दिया गया वरदान बाद में छीना जा सकता है, और ऐसे अच्छे कानून का क्या मूल्य कि जिसको चालू ही न किया जा सके? इस तरह जरूरी है कि गाँवों की कांग्रेस-कमे-टियों में किसानों का अच्छी तरह से संगठन हो।

(६)

मजदूरों के बारे में अभी तक कांग्रेस ने कोई विस्तृत कार्यक्रम तैयार नहीं किया है; क्योंकि हिन्दुस्तान में किसानों का सवाल ही सबसे अहम है। करांची के प्रस्ताव और चुनाव की विज्ञप्ति में मजदूरों के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बनाये गए हैं। मजदूरों का संघ बनाने और हड़-

ताल करने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है और 'जीवन-वेतन' का सिद्धान्त पसन्द किया गया है। हाल ही में बम्बई की सरकार ने मजदूरों के बारे में जो नीति बनाई है, उसे कार्य-समिति ने पसन्द किया है। वह नीति अन्तिम या आदर्श नीति नहीं है; लेकिन मौजूदा हालतों में और थोड़े वक्त में जो कुछ किया जा सकता है, उसका प्रतिनिधित्व वह करती है। मुझे शुबहा नहीं कि अगर इस नीति को चालू किया जाता है तो उससे मजदूरों को राहत मिलेगी और उन्हें संगठित होने की ताकत मिलेगी, जो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस कार्यक्रम और नीति की बुनियाद ही मजदूरों की संस्थाओं को मजबूत बनाना है। बम्बई की सरकार ने अपनी मजदूर-नीति में कहा है कि "उसका विश्वास है कि असेम्बलियों और कौंसिलों का कोई भी कार्यक्रम मजदूरों की संगठित ताकत का मुकाबिला नहीं कर सकता और जबतक काम के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे ट्रेड-यूनियनों की लाइनों पर मजदूरों की संस्थायें न चलेंगी, न बढ़ेंगी, तबतक कोई बहुत दिनों तक चलनेवाली भलाई नहीं हो सकती। इसलिए सरकार मजदूरों की संस्थाओं की उन्नति में बाधक असली मुश्किल को दूर करने में मदद करना चाहती है और मालिक और मजदूर के बीच सामूहिक हित की भावना पैदा करना चाहती है। मजदूरों के सताये जाने को रोकने के लिए रास्ते निकाले जायंगे और उनका सम्बन्ध मजदूर-संघों से कराया जायगा और जायज ट्रेड-यूनियनों की कार्रवाई में उनके हिस्सा लेने का भी उपाय निकाला जायगा।"

मजदूर-सम्बन्धी झगड़ों के बारे में बंबई की सरकार ने असेंबलियों और कौंसिलों को राय दी है कि वे विश्वास दिलायें कि "मजदूरों की मजदूरी में कोई कमी न की जायगी या मजदूरों को काम में लगाने की हालतों में कोई ऐसी तब्दीली न की जायगी जो उनके लिए नुकसानदेह हो, जबतक कि उस तब्दीली की सारी बातों की अच्छी तरह से जाँच न करा लें और झगड़े के शान्तिपूर्वक समझौते के सभी रास्ते, आपस के समझौते द्वारा, या सुलह और पंचायत द्वारा, या कानून की मदद से, न देख लें। इसी

तरह का दायित्व उनकी मांगों के बारे में कार्यकर्ताओं का होगा।" इसका मतलब यह है कि मजदूरों-सम्बन्धी कोई झगड़ा बढ़ने से पहले सुलह या पंचायत द्वारा उसे तय करने की बीच की कोई अवस्था अवश्य होनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसी कोई अनिवार्य पंचायत हो जिसका निर्णय सब पार्टियों को, चाहे वे उसे स्वीकार करें या न करें, पूर्णतया मान्य हो।

मजदूरों की इच्छा की परवा न करके दिये गए अनिवार्य फैसले का मजदूरों ने हमेशा विरोध किया है; क्योंकि वह उनके हड़ताल करने के अत्यन्त प्रिय अधिकार की जड़ पर कुल्हाड़ी मारता है। उन्हें यह भी डर है, और वह डर काफी मुनासिब भी है, कि पूंजीवादी मुल्क में अनिवार्य फैसले में राज्य का मालिकों के ही साथ रहने की संभावना है। इसलिए उनके हाथ-पैर बँध जायँगे और वह उस हथियार को जो उनके पास है और बरसों के झगड़ों के बाद उन्हें मिला है, इस्तेमाल नहीं कर सकेंगे। मौजूदा प्रस्ताव यह नहीं है; क्योंकि मजदूर के हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार करने की कांग्रेस की नीति के वह खिलाफ होगा। हड़ताल करने का अधिकार उनका पूरी तरह से माना जाता है, लेकिन उनके झगड़े को तय करने के लिए एक बीच की अवस्था भी जरूरी समझी जाती है। मुझे यकीन है कि यह नीति सबके लिए बहुत फायदे की होगी। हमारे मजदूर कमजोर हैं, अव्यवस्थित हैं और अपने अधिकारों के लिए भी खड़े नहीं हो सकते। अव्यवस्थित रूप से जो हड़तालें हुई हैं, वे सब बराबर नाकामयाब रही हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी नाकामयाब हड़तालें भी मजदूर-आन्दोलन को मजबूत बनाती हैं; लेकिन उससे आंदोलन कमजोर भी पड़ जाते हैं, यह और भी सच है। और हमारे मजदूर-आंदोलनों की मौजूदा कमजोर हालत इस बात की गवाही देती है। मजदूरी में कमी करने के खिलाफ मजदूर बरसों से लड़ रहे हैं; लेकिन उसे रोकने में वे करीब-करीब असमर्थ हैं। अगर ऐसा कानून, जैसा कि बम्बई की सरकार ने बनाया है, होता तो मजदूरी को कम करना कहीं अधिक कठिन

होता और मजदूर मालिकों के साथ बराबर की हालत में अच्छी तरह से सौदा करने में समर्थ होते और उनके पीछे दोस्ताना जन-मत भी होता।

हड़ताल एक मजबूत हथियार है, और मजदूर का तो वह एकमात्र सच्चा हथियार है। उसका पोषण होना चाहिए, उसे सुरक्षित रखा जाना चाहिए और जहाँ कहीं जरूरत पड़े, उसे संगठित और अनुशासित ढंग से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। उसे अक्सर और अव्यवस्थित रूप से इस्तेमाल करना तो उसकी धार को ही खराब करना है और मजदूरों को खुद कमजोर करना है। हड़ताल के पीछे मजबूत संगठन और जन-मत होना चाहिए। अगर पक्षपाती और अव्यवस्थित हड़तालें बार-बार की जायें और वे असफल रहें, तो ऐसा संगठन शायद ही आगे बढ़ सकता है।

इसलिए संगठन मजदूरों की पहली जरूरत है। और वे लोग जो किसान का भला चाहते हैं, उन्हें मजबूत ट्रेड-यूनियन बनाने में मदद देनी चाहिए। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि किसी तरह की भी हिंसा, चाहे हड़ताल के समय में या और किसी समय में, मजदूरों के हितों के लिए हानिकारक है। इससे राज्य खिलाफ हो जाता है और उससे कहीं अधिक हिंसा राज्य करने लगता है। मजदूरों में अव्यवस्था फैल जाती है और जन-मत उनके विरुद्ध हो जाता है। हिन्दुस्तान में कभी-कभी साम्प्रदायिक झगड़े उठ खड़े होते हैं और मजदूरों की माँगों की तरफ ध्यान खिंचकर फौरन उन झगड़ों की तरफ हो जाता है। मजदूर साम्प्रदायिक नहीं हो सकते और न साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन ही दे सकते हैं।

कानपुर की हाल की हड़ताल से बहुत सी बातें हम सीखते हैं। वहाँ पर गोली चलने के बारे में अखबारों में बड़ी तूल-तबील खड़ी की गई और मेरे बारे में गलत रिपोर्ट की गई थी कि मैंने कहा कि मैं उस गोली चलने को पसंद करता हूँ। असलियत तो यह थी कि मैं उस गोली चलने के बारे में कुछ जानता नहीं था और ऐसा मैंने कहा भी था। बाद में मैंने पाया कि वह गोली चलना एक मामूली और निजी बात थी और उसकी अहमियत ज्यादा नहीं थी। भड़ककर किसी आदमी ने गोली चला दी थी

और खुशकिस्मती से उससे किसी के भारी चोट भी नहीं आई। लेकिन ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि मौके-मौके पर भीड़ ने, ज्यादातर सम्प्रदायवादियों ने, जो मुसीबत से बाहर थे, पत्थर फेंके। वे समझौता नहीं चाहते थे। समझौता होने पर भी इन सम्प्रदायवादियों ने, उसे रद्द करने की और मजदूरों को मिल में लौटने से रोकने की भरकस कोशिश की। खुशकिस्मती से उनका असर ज्यादा नहीं था और मजदूरों के नेताओं को रातभर की मिहनत से मजदूरों को सारी परिस्थिति समझाने और काम पर फिर लगा देने में कामयाबी मिली। अगर मजदूर ट्रेड-यूनियन में ठीक-ठीक संगठित होते तो ऐसी कठिनाई कभी न आती।

इसलिए हमें सबक मिलता है : मजदूरों के संगठन को मजबूत किया जाय और साम्प्रदायिकता और हिंसा से सावधान रहा जाय।

मजदूर और उनके नेता अच्छी तरह से जानते हैं कि कांग्रेस-मंत्रि-मंडल उनके मुआफिक हैं और यथासंभव हर तरीके से उनकी मदद करना चाहते हैं। जितना वे करना चाहते हैं, उतना अगर आज नहीं कर सकते तो उसका कारण वे परिस्थितियाँ हैं जिनपर उनका कोई काबू नहीं है। लेकिन इतिहास में यह पहला मौका है जब मजदूरों के आन्दोलन से हमदर्दी रखनेवाली सात प्रांतीय सरकारें सूबों में हैं और बुराइयों को दूर करने और अपनी ताकत बढ़ाने और संगठन करने का उन्हें मौका मिला है। इन सरकारों को अगर वे परेशान करेंगे और उन्हें अपना सहयोग नहीं देंगे तो इससे वे अपने ध्येय को ही नुकसान पहुँचावेंगे।

(७)

सवाल उठते हैं कि कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों का आम तौर से इन मंत्रि-मंडलों और प्रांतीय सरकारों के, जहाँ पर वे काम कर रही हैं, प्रति क्या रुख हो? क्या वे उनकी आलोचना खुले तौर से करें, या सिर्फ खानगी में, या बिलकुल ही न करें? इन सात सूबों में अब हमारी सार्वजनिक कार्रवाइयां क्या होनी चाहिएं?

यह साफ है कि किसी भी मन्त्रि-मंडल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण कांग्रेस है। मन्त्रि-मंडल चाहे कायम हों चाहे रद्द हो जायं; लेकिन कांग्रेस जबतक हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय आजादी पाने का अपना ध्येय पूरा नहीं कर लेती, तबतक वह चलेगी। अगर कुछ होगा तो वह मन्त्रि-मंडलों द्वारा नहीं होगा; बल्कि कांग्रेस के जरिये काम करते हुए हिन्दुस्तानियों की संगठित ताकत से होगा। जब आजादी पूरी तरह से मिल जाती है तो कांग्रेस खत्म हो सकती है। उसका काम पूरा हो जायगा। लेकिन काम पूरा होने तक वह हमारी ताकत, एकता और राष्ट्रीय ध्येय का चिह्न रहेगी और उसे मजबूत बनाने की हमें हर तरह से कोशिश करनी चाहिए। वह ताकत उसे रोज-बरोज जनता की सेवा करने और अपनी-अपनी मौलिकता पैदा करने और जनतन्त्रीय चर्चा की आदत डालने से मिलेगी।

यह स्पष्ट है कि किसी कांग्रेस-कमेटी के लिए कांग्रेस मन्त्रिमंडल की निन्दा करना गैरमुनासिब और वाहियात है। यह तो ऐसा है, जैसे एक कांग्रेस-कमेटी दूसरी कांग्रेस-कमेटी की ही निन्दा करती हो। मन्त्रिमंडल कांग्रेस ने कायम किये हैं, कांग्रेस उनका खात्मा भी चाहे जब कर सकती है। अगर मन्त्रि-मंडल ठीक नहीं हैं, तो हमें उनका अंत कर देना चाहिए या उनको सुधार देना चाहिए। अगर हम वैसा नहीं कर सकते, तो हमें जैसे वे चलते हैं, वैसे उन्हें बर्दाश्त करना चाहिए। इसलिए निन्दा करना तो बाहर की बात हो जाती है। अगर किसी भी समय हम सोचते हैं कि मन्त्रि-मंडलों का अन्त हो जाना चाहिए, तो विधान के मुताबिक हमें ठीक कार्रवाई करके उनका अन्त कर देना चाहिए।

दूसरी तरफ, कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसमैनों का चुप और कांग्रेसी सरकारों के कामों का मूक दर्शक भर रहना भी उतना ही वाहियात है। किसानों की समस्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर असेम्बलियां और कौंसिलें विचार करेंगी और हम सबको उनमें दिलचस्पी है और होनी चाहिए। कांग्रेस कमेटियों को उनपर चर्चा करने का और अपने विचारों और सिफारिशों को और जनता की मांगों को अपनी प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों को

भेजने का पूरा अधिकार है। यह तरीका असेम्बलियों, कौंसिलों और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को फायदेमन्द साबित होना चाहिए। मित्रता-पूर्वक की गई आलोचनाओं और विचारों का हमेशा स्वागत होना चाहिए। मुख्य चीज तो मैत्री और उस समस्या तक पहुँचने का तरीका है। अगर हम कांग्रेस-मन्त्रि-मंडलों को परेशान करते हैं और उनके रास्ते में मुसीबतें पैदा करते हैं तो इससे हम अपने को ही परेशान करेंगे। एक ही लक्ष्य के हम सब सिपाही हैं, और एक ही महान् कार्य में हम सब साथी हैं, और हम चाहे मन्त्री हों, या गांव के मजदूर, हमें एक दूसरे के साथ सहयोग की भावना से व्यवहार करना चाहिए, एक दूसरे की मदद करने की इच्छा करनी चाहिए, एक-दूसरे का रास्ता नहीं रोकना चाहिये। हाँ, रहना हमेशा सतर्क और तैयार चाहिए। खुशी से फूलना हमें नहीं चाहिए, जिससे हमारी सार्वजनिक कार्रवाइयाँ ही खत्म हो जायँ और धीरे-धीरे हमारे आन्दोलन की आत्मा ही कुचल जाय। यही भावना और उससे जो सार्वजनिक कार्रवाइयाँ निकलती हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि सिर्फ उनसे हमें आगे बढ़कर अपने ध्येय तक पहुँचने की शक्ति मिलती है और उसी बुनियाद पर हम प्रजातन्त्रीय स्वतन्त्रता की इमारत खड़ी कर सकते हैं। अगर उस भावना की कीमत पर हमें छोटे-छोटे फायदे होते हैं, तो हमें उन फायदों की परवा करनी चाहिए।

हमारा उद्देश्य राष्ट्रीय आजादी और एक प्रजातन्त्रीय राज्य पाने का है। प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता है; लेकिन वह अनुशासन भी है। इसलिए अपने आदमियों में हमें प्रजातन्त्र की आजादी और अनुशासन दोनों पैदा करने चाहिए।

३० अगस्त १९३७।

: २० :

देशी राज्य[1]

हिन्दुस्तान और इंग्लैंड की हाल ही की घटनाओं ने यह साफ कर दिया है कि वहाँ की प्रतिगामी ताकतें हिन्दुस्तान की आजादी को रोकने या उसमें देर करने के लिए आपस में मिल रही हैं। इन ताकतों ने कोशिश की है कि हमारे आजादी के आन्दोलन को दबा दें और 'व्हाइट पेपर' तो स्थापित स्वार्थों के अधिकार को ही मजबूत करने की एक कोशिश है। सब से ज्यादा महत्त्वपूर्ण चीज देशी नरेशों का एकदम प्रतिगामी रुख और सरकार से उन्हें मिली मदद है।

यह अनिश्चित है कि आजाद हिन्दुस्तान एक फैडरेशन होगा; लेकिन यह बिलकुल निश्चित है कि 'व्हाइट पेपर' में दिये हुए फैडरेशन से आजादी जैसी कोई चीज भी नहीं मिल सकती। इस फैडरेशन का मतलब तो सिर्फ हिन्दुस्तान की तरक्की को रोकना और फ्यूडल तथा गई-गुजरी पद्धतियों से और जकड़ देना है। इस फैडरेशन से तरक्की करके आजादी पा लेना एक दम नामुमकिन है, तब तक फैडरेशन के टुकड़े-टुकड़े न कर दिये जायं।

इसलिए मेरी राय में हम सबको—चाहे देशी राज्यों में रहते हों या उनके बाहर हिन्दुस्तान में—इस स्थिति को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए और महसूस करना चाहिए कि हमारा एक ही रास्ता है—ऐसे किसी भी झूठे फैडरेशन को एकदम नामंजूर करना। हमें तो मुकम्मिल आजादी चाहिए, जिसका मतलब है विदेशी अधिकार का पूरी तरह से

१ ब्यावर में हुई राजपूताना स्टेट्स पीपिल्स कन्वेंशन के लिए दिया गया सन्देश।

चला जाना और एक प्रजातंत्रीय सरकार का कायम होना। देशी राज्यों की पद्धति, जैसी कि वह आज है, समूल नष्ट हो जानी चाहिए।

आपकी कन्वेंशन आज कल के बहुत-से अहम मसलों पर, जैसे स्टेट्स प्रोटेक्शन बिल और दमन पर, जो देशी राज्यों में किया जा रहा है, विचार करेगी। आपके सामने ये मसले पड़े हैं; लेकिन जो प्रणाली आज चल रही है, आख़िर उसी से ये पैदा हुए हैं। इसलिए मैं उम्मीद करता हूँ कि आप अपना लक्ष्य स्पष्ट और निष्पक्ष बनायेंगे और उसी के मुताबिक आपका कार्य-क्रम होगा।

२२ दिसम्बर १९३३।

: २१ :

देशी राज्यों में अधिकारों की लड़ाई

हिन्दुस्तान में कोई छः सौ रियासतें हैं। कुछ बड़ी हैं, कुछ छोटी, और कुछ इतनी छोटी कि नकशे पर उन्हें दिखाया भी नहीं जा सकता। वे एक-दूसरी से बहुत भिन्न हैं। कुछ ने औद्योगिक और तालीमी तरक्की की है; और कुछ के राजा और मन्त्री बड़े लायक हैं। फिर भी उनमें से ज्यादातर में प्रतिक्रिया हो रही है और कभी-कभी खोटे और जलील शख्सों की अयोग्यता और मनमानी वहाँ बे-रोक चलती है; लेकिन राजा चाहे अच्छा हो या बुरा, मंत्री चाहे योग्य हो या अयोग्य, दोष तो उसमें राज्य की पद्धति का है। यह पद्धति दुनिया भर से उड़ गई है और अगर अपने आप पर ही छोड़ दी जाती तो कब की हिन्दुस्तान से भी उड़ गई होती; लेकिन उसके स्पष्ट रूप से अवनत और बेकार होने पर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे सहारा दिया है और बनावटी तरीकों से उसे कायम रखा है। ब्रिटिश सत्ता ने उसे पैदा किया है और उसका भरण-पोषण साम्राज्यवाद ने अपने ही फायदे के लिए किया है। इसलिए वह आज भी जिन्दा है, हालांकि बड़ी-बड़ी क्रान्तियों ने दुनिया को हिला दिया है, दुनिया को बदल भी दिया है, राज्य ढह गये हैं और नरेशों और मामूली राजाओं की भीड़-की-भीड़ गर्त में विलीन हो गई है। उस प्रणाली में कोई अपनी आंतरिक विशेषता या शक्ति नहीं है। महत्त्व तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति का है। हमारे लिए तो हिन्दुस्तान में वह पद्धति साम्राज्यवाद का एक ही रूप है। इसलिए जब लड़ाई होती है तो हमें पहचानना होगा कि हमारा दुश्मन कौन है।

अब हमसे रियासतों की आजादी और सर्वोच्च सत्ता के साथ पवित्र और सुरक्षित संधियों की बात कही जाती है, जो हमेशा कायम रहती

दिखाई देती है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का और पाक-से-पाक संधि-पत्रों का, जब कि वे साम्राज्यवाद के मतलब के नहीं रहते, तब क्या हाल होता है, यह हम हाल ही में देख चुके हैं। हमने देखा कि संधियाँ तोड़ दी गईं, मित्रों और साथियों को कमीनेपन के साथ छोड़ दिया गया और उन्हें धोखा दिया गया तथा इंग्लैंड और फ्रांस ने अपनी प्रतिज्ञायें तोड़ डालीं। नुकसान तो उससे प्रजातंत्र और आजादी को पहुँचा, इसलिए उसका कुछ भी महत्त्व नहीं था। लेकिन जब उससे प्रतिक्रिया और स्वेच्छाचारिता और साम्राज्यवाद को नुकसान पहुँचता है, तो उसका महत्त्व हो जाता है। और तब संधियों को, वे चाहे जितनी बुरी और लोगों के लिए नुकसानदेह हों, सुरक्षित रखना जरूरी हो जाता है। इन सवा सौ साल पहले की संधियों को, जिनके किये जाने में लोगों की जरा भी आवाज नहीं है, बर्दाश्त के लिए कहा जाना एक बहुत भारी बोझ लोगों पर लादना है। उन आद-मियों से यह उम्मीद करना कि वे गुलामी की जो उन पर जबर्दस्ती और जोर से लादी गई है, जंजीरों में बँधे रहें और उस पद्धति के आगे झुकते रहें जो उनके खून को चूसकर सुखाती है, बिलकुल बेढंगी बात है। ऐसी सन्धियों को हम नहीं मानते और किसी भी तरह मंजूर नहीं कर सकते। हम जिस आखिरी ताकत और सर्वोच्च सत्ता को मानते हैं, वह जनमत है, और जो चीज हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है, वह जनता की भलाई है।

हाल के सालों में रियासतों की आजादी का एक नया सिद्धान्त आगे रखा गया है और यह सिद्धान्त उस सत्ता ने रक्खा है जो रियासतों को मजबूती से दबाये हुए है और गुलाम बनाये हुए है। न तो इतिहास ही और न वैधानिक कानून ही उसका समर्थन करता है। अगर हम इन रियासतों के मूल की जांच करें तो बहुत से राजे मामूली जागीरदार के दर्जे के रह जायंगे। लेकिन कानूनी खोज-बीन की हमें फिकर नहीं करनी है; क्योंकि रवैया और हालत बिलकुल साफ है। अँग्रेजी सरकार का रवैया तो उन रियासतों पर एकदम शासन करना रहा है। सरकार का जरा-सा भी इशारा उनके लिए हुकूमत के तौर पर है। न मानना चाहें तो अपने सिर

खतरा लें। भारत सरकार का राजनीतिक-विभाग बाजे के तारों पर उँगली फेरता है और उसकी तान पर ये पुतलियां नाचती हैं। स्थिति का मालिक लोकल रेजीडेंट है और बाद का रवैया यह रहा है कि सरकारी अफसर ही रियासतों के राजाओं के मन्त्री मुकर्रिर किये जाते हैं। अगर यही आजादी है, तो यह जानना बड़े मजे की चीज होगी कि बुरी-से-बुरी गुलामी और उसमें क्या फर्क है?

रियासतों में आजादी नहीं है और न होने वाली है; क्योंकि भौगोलिक रूप से वह नामुमकिन है और वह हिन्दुस्तान के संयुक्त और आजाद होने के विचार के एक दम खिलाफ है और बड़ी रियासतों के लिए यह विचारणीय बात है और उचित है कि उन्हें फैडरेशन में ज्यादा-से-ज्यादा स्वायत्त मिले। लेकिन हिन्दुस्तान का उन्हें मुख्य अंग रहना पड़ेगा और सामान्य हितों के बड़े मामलों पर एक प्रजातन्त्रीय फैडरल केन्द्र का अधिकार रहेगा। अपने राज्य के भीतर उन्हें उत्तरदायी सरकार मिल जायगी। यह साफ है कि रियासतों की समस्या आसानी से हल हो जाती, अगर झगड़ा सिर्फ प्रजा और राजा का ही होता। बहुत-से राजाओं को आजादी हो तो वे प्रजा का साथ देंगे अगर साथ देने का उनका विचार डांवाडोल है, तो नीचे से जोर पड़ने पर जल्दी ही वह अपना विचार बदल देंगे। ऐसा न करने से उनकी स्थिति खतरे में पड़ जायगी और तब एक ही रास्ता रहेगा कि वे राज्य से हाथ धो बैठें। कांग्रेस और जुदा-जुदा प्रजा-मंडल हर तरह की कोशिश अब तक कर चुके हैं कि राजा अपनी प्रजा का साथ दें और रियासतों में जिम्मेदार हुकूमत कायम करें। उन्हें समझ लेना चाहिए कि ऐसा न करने से और उनके राजी न होनेपर भी उनकी प्रजा को आजादी मिलने से रुकेगी नहीं; उनके विरोध से उनके और उनकी प्रजा के बीच एक मजबूत दीवार और खड़ी हो जायगी और तब दोनों में समझौता होना बेहद मुश्किल हो जायगा। पिछले सौ बरसों में दुनिया का नकशा बहुत-सी मरतबा बदला है; राज्य मिट गए हैं और नये मुल्क उठ खड़े हुए हैं। अब भी हम अपनी आंखों से नकशे को बदलते हुए देख रहे हैं।

विश्वास के साथ यह कहने के लिए किसी पैगम्बर की जरूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान की रियासतों की पद्धति की अब खैर नहीं है। अंग्रेजी सरकार की भी जो अब तक उन्हें बचाती रही है, खैर नहीं है। राजाओं के लिए अक्लमन्दी की बात तो यह है कि वे अपनी प्रजा का साथ दें और उनकी नई आजादी में हिस्सा बँटायें, बजाय इसके कि वे अत्याचारी और बुरे राजा बनें और उनका राज्य भी डावांडोल हालत में रहे। इसके खिलाफ वे प्रजा के साथ एक बड़ी जमहूरियत कायम करें और समान नागरिक बनें।

कुछ रियासतों के राजाओं ने इस बात को महसूस किया है और ठीक दिशा में उन्होंने कुछ कदम बढ़ाये हैं। एक मामूली रियासत के सरदार औंध के राजा ने अपनी अक्लमन्दी से अपनी प्रजा को जिम्मेदार सरकार देकर नाम कमाया है। ऐसा करने में उनकी शान बढ़ी है और उनकी वाह-वाह हुई है।

लेकिन बदकिस्मती से राजाओं में से ज्यादातर अपने पुराने ढर्रे पर चल रहे हैं; और उनके बदलने के कोई चिह्न भी दिखाई नहीं देते। वे तो इतिहास की इस बात को दोबारा दिखाते हैं कि अगर किसी जमात का अपना उद्देश्य पूरा हो गया है और दुनिया भर को उसकी जरूरत नहीं रही है तो वह नष्ट हो जाती है और उसकी चतुराई और ताकत सब खत्म हो जाती है। बदलती हुई हालतों के मुताबिक वह अपने को नहीं बना सकती। पतनोन्मुख चीज को पकड़े रहने की बेकार कोशिश में जो थोड़ा-बहुत उसके पास रह सकता था, उसे भी वह खो बैठती है। अंग्रेजी शासक-वर्ग का दौर बड़ा लम्बा और शानदार रहा है और तमाम उन्नीसवीं सदी और उसके बाद उसने सारी दुनिया पर शासन किया है। फिर भी आज हम उन्हें कमजोर और कमअक्ल पाते हैं। लगातार सोचने या काम करने की ताकत उनमें नहीं है। वे कुछ स्थापित स्वार्थों पर अधिकार बनाये रखने की बेहद कोशिश करते दिखाई देते हैं। दुनिया में वे अपना दर्जा मिट्टी में मिला रहे हैं और अपने राज्य की शानदार इमारत

को चकनाचूर कर रहे हैं। उन जमातों के साथ भी वही बात है जो अपना काम पूरा कर चुकी हैं और जिनकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है। अपनी इज्जत, परम्परा और शिक्षा के बावजूद जब अंग्रेजी-शासक-वर्ग नाकामयाब होता दिखाई दे रहा है तो हम अपने देशी नरेशों की क्या कहें जिनका पीढ़ियों से ह्रास हो रहा है और गैर-जिम्मेदारी जिनमें भर आई है? पोलो के टट्टुओं को चलाने की शिक्षा या कुत्तों की नस्ल पहचानने या बहुत-से बेगुनाह जानवरों को मार डालने की चतुराई से ज्यादा सरकारी समस्याओं के लिए ज्ञान की जरूरत पड़ती है।

लेकिन अगर रियासतों के राजा रजामन्द भी हों तो भी वे कुछ नहीं कर सकते; क्योंकि उनके भाग्य का तात्कालिक मालिक तो ब्रिटिश-सरकार का एजेंट है। उसको नाराज करने की हिम्मत वे नहीं कर सकते। राज-कोट के मामले में हम देख ही चुके हैं कि वहां का राजा जो अपनी प्रजा से समझौता करना चाहता था, उसे किस तरह से गद्दी से उतार देने की धमकी दी गई और ब्रिटिश एजेंटों के दबाव से किस तरह बाद में उसे अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हट जाना पड़ा।

इस तरह रियासतों में राजाओं के साथ तो झगड़ा सिर्फ यों ही है। वास्तव में वह झगड़ा तो ब्रिटिश साम्राज्य से है। यही मसला है जो साफ है और निश्चित है। और इसीलिए ब्रिटिश सत्ता का प्रजा के खिलाफ रियासतों में हस्तक्षेप करना विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। हम देखते हैं कि सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता ही जा रहा है। हस्तक्षेप सिर्फ भारत सरकार के राजनीतिक विभाग और उसके एजेंटों और रेजीडेंटों का ही नहीं है; बल्कि सशस्त्र फौजों द्वारा भी हस्तक्षेप होता है, जैसा कि उड़ीसा में हुआ है। जन-साधारण के आन्दोलन को कुचल डालने के लिए हस्तक्षेप को हम अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते। अगर भारत-सरकार प्रजा को कुचल डालने के लिए बीच में पड़ती है तो राष्ट्रीय कांग्रेस भी जरूर पूरी ताकत से उसमें हस्तक्षेप करेगी। हमारे तरीके जुदा हैं, वे अहिंसात्मक तरीके हैं; लेकिन वे प्रभावशाली हैं, यह पिछले दिनों में जाहिर

हो ही गया है।

गांधी जी ने बार-बार ब्रिटिश-सरकार और हिन्दुस्तान के उसके एजेंटों को इस लड़ाई के खतरनाक नतीजों से आगाही दी है। यह तो साफ तौर से नामुमकिन है कि लड़ाई बस कुछ रियासतों और कांग्रेस तक ही रहे और साथ ही प्रांतीय शासन भी चलता रहे, जिसमें ब्रिटिश-सत्ता के साथ कुछ सहकारिता भी रहे। अगर यह अहम लड़ाई ही है, तो उसका असर हिन्दुस्तान के दूर-से-दूर कोनों तक फैलेगा और इस या उस रियासत तक ही सीमित नहीं रहेगा; बल्कि ब्रिटिश सत्ता को एकदम उड़ा देने तक सीमित होगा।

आज उस झगड़े का रूप क्या है? यह साफ तौर से समझ लेना चाहिए। रियासत-रियासत में उसका रूप जुदा-जुदा है। लेकिन हर जगह मांग पूरी जिम्मेदार सरकार के लिए है। झगड़ा इस वक्त उस मांग को पूरा कराने का नहीं है, बल्कि उस मांग के लिए लोगों को संगठित करने के हक को कायम करने का है। जब वह हक नहीं दिया जाता और नागरिक स्वतन्त्रता कुचली जाती है, लोगों के लिए हलचल मचाने के वैधानिक तरीकों का रास्ता खुला नहीं रह जाता। तब चुनाव के लिए उनके सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं कि वे या तो तमाम राजनीतिक और सार्वजनिक हलचलों को छोड़ दें और आत्मा की जलालत सहें और उन्हें सतानेवाले जुल्म चलते रहें, या वे उससे सीधी टक्कर लें। वह सीधी टक्कर, हमारी विधि के अनुसार, बिलकुल शान्तिदायक सत्याग्रह है और हिंसा और बुराई के सामने झुकने से, नतीजा चाहे जो कुछ हो, इन्कार कर देना है। इस तरह आज का तात्कालिक मसला तो ज्यादातर रियासतों में नागरिक स्वतन्त्रता का है, हालांकि लक्ष्य हर जगह जिम्मेदार सरकार कायम करने का है। जयपुर में तो कुछ हद तक समस्या और भी सीमित हो जाती है; क्योंकि वहां की सरकार प्रजामंडल के दुर्भिक्ष-सहायता के काम के संगठन की मुखालफत करती है।

ब्रिटिश-सरकार के सदस्य अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का समर्थन

करते हुए हमसे अक्सर कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में वे अमन-चैन पसन्द करते हैं और ताकत और हिंसा के तरीकों से तो वे डरते हैं। अमन-चैन के नाम पर उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय धन बुरी-से-बुरी तरह ऐंठने और गोलबन्दी में मदद की है और प्रोत्साहन दिया है, और यूरोप में प्रजातन्त्र और आजादी को सख्त चोट पहुँचाई है। अपनी नीति से उन्होंने यूरोप में निर्लज्ज हिंसा का राज्य फैला दिया है। स्पेन की रिपब्लिक की, जो इतने दिनों तक शान के साथ भारी फौजों के साथ युद्ध करती रही, हमारे जमाने की सबसे दुःखान्त कहानी में भी इनका हाथ रहा है। फिर भी ये ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ शान्तिदायक समझौते के गुणों की और बल-प्रयोग और हिंसा की बुराई की बात करते हैं। ऐसी पवित्र भावनायें उन्होंने यूरप में फैलाई हैं, ताकि प्रतिक्रिया और हिंसा को खुला क्षेत्र मिल जाय और आजादी को कुचलने का उन्हें काफी मौका मिले।

हिन्दुस्तान और खासतौर से रियासतों में हमें क्या दिखाई देता है? हमारे शान्तिदायक प्रचार, शान्तिदायक संगठन और शान्तिदायक समझौते की तमाम कोशिशों का रियासतों के अधिकारी वहशियाना हिंसा के साथ मुकाबिला कर रहे हैं। उनके पीछे ब्रिटिश सत्ता की सशस्त्र ताकत और राजनीतिक प्रभाव है। इस तरह जनतन्त्र और आजादी की दिशा में जहां कहीं तब्दीली कराने की, वह तब्दीली चाहे जितनी जायज और लाभदायक हो, कोशिश की जाती है, वहाँ निर्दयता और ताकत के जोर पर उन्हें दबा दिया जाता है। लेकिन जहां फासिज्म और साम्राज्यवाद अपने निजी हितों के लिए और जनतन्त्र और आजादी को दबाने के लिए कोई तब्दीली करना चाहते हैं, तो हिंसा और ताकत को पूरी मदद दी जाती है। शान्ति की नीति का अर्थ केवल उन आदमियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना होता है जो अपनी स्वतन्त्रता कायम रखना चाहते हैं।

क्या अब भी कोई इस बात को कहता है कि जुल्म, स्वेच्छाचार और गन्दा शासन रियासतों में चालू रहना चाहिए? क्या कोई कहेगा कि ये सब वहां से नहीं उठ जाने चाहिए और उनकी जगह स्वतंत्र संस्थाएँ नहीं

कायम होनी चाहिए ? अगर उन्हें दूर करना है तो मामूली तौर से यह तब्दीली कैसे की जाय, जबतक कि शान्तिपूर्ण-संगठन और चतुर स्वावलम्बी जन-मत का विकास न हो ? उन्नति के लिए जरूरी है कि नागरिक स्वतन्त्रता पूरी तौर से कायम की जाय। हिन्दुस्तान से यह कहना उसकी बेइज्जती की बात है कि वह रियासतों में आर्डिनेन्स राज्य को, संगटनों और सार्वजनिक सभाओं के दमन को और अक्सर लोगों से सम्बन्धित तरीकों को बर्दाश्त कर ले। क्या रियासतें बड़े-बड़े जेलखाने हैं, जहां मानवीय आत्मा को खत्म किया जाता है ? और लोगों की धन-सम्पत्ति इसलिए है कि दरबारों के दिखावे और भोग-विलास में खर्च हो जबकि जनता भूखों मरे और अनपढ़ और असभ्य बनी रहे ? क्या वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रक्षा में मध्यकालीन हिन्दुस्तान में चालू रहने के लिए हैं ?

हममें से कोई भी संघर्ष नहीं चाहता । लेकिन इस विध्वंस के काल में हर कदम पर हमारे चारों ओर संघर्ष है और दुनिया में अशान्ति और हैवानी हिंसा का राज्य फैला हुआ है। हममें से कोई भी उस अशान्ति को हिन्दुस्तान में नहीं चाहता; क्योंकि आजादी की प्रस्तावना वह नहीं है। फिर भी हम जानते हैं कि ज्यों-ज्यों हमारी ताकत बढ़ेगी, त्यों-त्यों भेद और फूट, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता, गैर जिम्मेदारी और मन की संकीर्णता के साधन भी बढ़ते जायंगे । हमें यह याद रखना होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद, हालांकि केन्द्र में कमजोर होता जा रहा है, प्रबल शत्रु है और आजादी के लिए न जाने कितनी लड़ाइयां हमें लड़नी होंगी । न तो हम और न कोई दूसरा भविष्य को खुशदिली से देख सकता है; क्योंकि मौजूदा समय दुःख और उपद्रवों से भरा हुआ है और हिन्दुस्तान का निकट-भविष्य अंधकार के आवरण में लिपटा हुआ है। फिर भी हिन्दुस्तान में आशा की किरणें हैं, हालांकि काले-काले बादल हमें घेरे हुए हैं। आशा की इन किरणों में सबसे अधिक चमकीली किरण है रियासत के लोगों में नवीन जाग्रति। हम जो कि उनके झगड़े के बोझ में सहारा देना चाहते हैं, उनके ऊपर एक भारी जिम्मेदारी

आ पड़ती है। उसे सच्चाई के साथ पूरा करने के लिए हमारी तमाम हिम्मत और चतुराई की जरूरत होगी। आडम्बरी भाषा से हमें मदद नहीं मिलेगी। वह तो अक्सर कमजोरी का निशान है और काम नहीं करना होता तो उसका सहारा लिया जाता है। आज तो काम की जरूरत है—उस होशियारी के और प्रभावशाली काम की जो हमें जल्दी ही हमारे मंजिले-मकसद पर पहुँचा देगा, जो फूट के साधनों को रोकना है और जो संयुक्त भारत के हमारे सपने को पूरा करता है।

मामूली से फायदे और लाभ कभी-कभी चाहे हमें ललचा लें; लेकिन अगर वे हमारे महान् लक्ष्य के रास्ते में आते हैं तो हमें उनको अस्वीकार कर देना चाहिए और दूर कर देना चाहिए। मौकों पर भड़क कर हम अपने सिद्धान्त को भूल सकते हैं। अगर हम सिद्धान्तों को भूलें तो अपने खतरे पर भूलें। हमारा ध्येय तो महान् है, हमारे साधन भी इसलिए ऐसे होने चाहिए कि कोई उनकी ओर उँगली न उठा सके। बड़ी बात पर हम बाजी लगाते हैं। हमें उसके योग्य होना चाहिए। महान् ध्येय और छोटे-छोटे आदमी साथ नहीं चल सकते।

फरवरी १९३९।

: २२ :

नरेश और फैडरेशन

नये विधान के शुरू होते ही जो वैधानिक संकट उठ खड़ा हुआ है, उससे बहुतों ने विधान की खासियत को समझा है। अर्थ या विश्लेषण से विधान उतना नहीं समझा जा सकता। चाहे नया कानून कानून की किताब में बना रहे, ब्रिटिश सत्ता की मदद से चाहे छाया-मात्र मंत्रि-मंडल काम करते रहें, लेकिन यह सब हवाई है, भूत-प्रेतों के देश-जैसा। आज की असलियत तो यह है कि एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद है और दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवाद, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती है। यानी तस्वीर के दो पहलू हैं। नये कानून को उसमें स्थान नहीं है। इसलिए वह जरा से छूने पर ही ढह रहा है। लेकिन उसे ढहाने में हमें और जल्दी करनी चाहिए। यह हमें याद रखना चाहिए कि नये कानून का संघीय भाग भविष्य के धुंधलेपन में भी सिर उठाता है। कांग्रेस ने हमें आदेश दिया है कि इस संघीय विधान के विरुद्ध हम लड़ें और उसके प्रचार को रोकें; क्योंकि सारे कानून में संघीय भाग के बराबर घातक और कोई चीज नहीं है।

देशी नरेशों का क्या हाल है? उड़ती हुई खबरें हमारे पास आती हैं कि कुछ उससे राजी हैं और कुछ उसमें संदेह करते हैं। पिछले सालों के राष्ट्रीय युद्ध में ये नरेश, करीब-करीब सब-के-सब, ब्रिटिश सरकार के निकटतम साथी रहे हैं। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति वे अनुदार रहे हैं। क्या राष्ट्रभर के विरोध करने पर भी फैडरेशन को स्वीकार करके वे अनुदारता का एक और काम करेंगे? ऐसा फैसला करना उनके लिए बड़ी गम्भीर बात होगी; क्योंकि पहले से भी अधिक हिन्दुस्तानियों का विरोध उन्हें करना होगा। देशी राज्यों की आजादी, विशेष संधियों आदि के

बारे में बहुत-सी बातें कही जा रही हैं; लेकिन भविष्य में महत्त्व की बात तो वह संधि होगी जो हिन्दुस्तानी दूसरों से करेंगे। नया कानून तो खत्म होगा और उसकी सैकड़ों दफायें, विशेष अधिकार और फैडरेशन, सब यों ही पड़े रहेंगे। इसलिए मैं देशी नरेशों से कहूँगा कि वे इस दृष्टिकोण से इस मामले पर विचार करें और अनावश्यक साहस न दिखावें।

३ मई १९३७।

: २३ :

हिन्दू महासभा और साम्प्रदायिकता[1]

बहुत दिनों से मेरी राय है कि हिन्दू महासभा एक छोटा-सा प्रतिगामी गुट्ट है जो दावा करता है कि हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दुओं का, जिनका वह जरा भी प्रतिनिधित्व नहीं करता, पक्ष लेता है। उसके ऊँचे नाम से और परिभाषा से भ्रम भी फैला है। उस भ्रम को दूर करने का यह वक्त है। किसी भी चीज से मुझे इतना दुःख नहीं पहुँचा जितना हिन्दू महासभा के गुट्ट की कार्रवाइयों से पहुँचा है।

राष्ट्रवाद की आड़ में महासभा बुरी-से-बुरी और तंग-से-तंग साम्प्रदायिकता को ही नहीं छिपाती, बल्कि वह यह भी चाहती है कि बड़े-बड़े हिन्दू जमींदारों और नरेशों के स्वार्थों को कायम रखे। महासभा की नीति से, जिसको उसके जिम्मेदार नेताओं ने जाहिर किया है, पता चलता है कि विदेशी सरकार को महासभा सहयोग देना चाहती है; जिससे चापलूसी करके और सरकार के सामने अपने को जलील करके शायद कुछ टुकड़े उसे मिल जायं। यह आजादी की लड़ाई के साथ विश्वासघात करना है, राष्ट्रवाद के प्रत्येक रूप से इन्कार करना है और हिन्दुओं की माननीय भावनाओं का दमन करना है। महासभा ने समाजवाद और सामाजिक परिवर्तन के हरेक तरीके की खुले तौर पर निन्दा करके दिखा दिया है कि स्थापित स्वार्थों से उसका सम्बन्ध है। यह सोचना मुश्किल है कि हिन्दू महासभा की मौजूदा नीति से जलील, प्रतिक्रियात्मक, राष्ट्र-विरोधी, प्रगति-विरोधी और नुकसानदायक और कोई भी नीति हो सकती है। हिन्दू महासभा के नेताओं को महसूस करना चाहिए कि हिन्दुस्तान की

---

१ हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस, के विद्यार्थियों के सामने दिया गया भाषण।

आजादी के दुश्मनों और मुल्क के तीव्र प्रतिगामी तत्वों के पक्ष लेने की नीति का लाजिमी तौर पर यह नतीजा होगा कि वाकी हिन्दू और गैर-हिन्दू मुल्क मिलकर उनका मुकाविला करें, और विरोध करें और अपनी आजादी और ध्येय का, जिसके लिए हम सब कोशिश कर रहे हैं, उन्हें दुश्मन समझें। यह निन्दा या अलाहदा होने की ही वात नहीं है, हालांकि निन्दा और अलहदगी दोनों होंगी ही, वल्कि नितान्त अवसरवादियों और मूर्खतापूर्ण नीतियों के सक्रिय और सतत विरोध की वात है।

१२ नवम्बर १९३३।

: २४ :

दो मस्जिदें

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ मजहबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाक़यात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जांच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है, लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुये हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मस्जिद की तरफ जा पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफ़ानों को इस आलीशान इमारत ने बरदाश्त किया; बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढँका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर

से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया-भर का तजुर्बा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों को बरदाश्त करना कठिन था; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मजहब उठे और बैठे; बड़े-से बड़े बादशाह, खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक-से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायब हो गए। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फरेब और बेवकूफी? हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरोप को वहां अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भाँति बासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइजेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अकसर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की

रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइजेंटियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कान्सटेंटिनोपल (उर्फ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जाकर मजबूत हो गया; लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खत्म कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजैंटाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कान्सटेंटाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। उनमें से जो रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्त्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अकसर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन-आसमान का फर्क हो गया। सम्राट् स्वयं ईसाई हो गया, और ईसाई-धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं को पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट् फिर ऐसे हुए (जूलियन), जो ईसाई-धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई-धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहां से भी वे धीरे-धीरे गायब होगये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं; और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो-

गया। उस समय यूरप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहां की इमारतें एक नई तर्ज की बनीं; एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियां, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज के थे, और जिसके अन्दर खम्भों वगैरह पर बारीक मोजाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती बाईजेंटाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान कैथीड्रेल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया जो सांक्टा सोफिया या सेंट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊंचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई, और यह गिरजा अब तक बाइजेंटाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई-धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है), और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहां का ईसाई फिरका अलग होगया। यह फिरका आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था; क्योंकि वहां की बोली ग्रीक हो गई थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेंटसोफिया का केथीड्रेल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था और नौ सौ वर्ष तक ऐसा ही रहा। बीच में एक दफा रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े और उस पर उन्होंने कब्जा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल

चुका था और सेन्टसोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ; जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में ओसमानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहाँ का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद हो गई। सेन्टसोफिया का नाम आया सुफीया हो गया। उसकी यह नई जिन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिसपर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े मनसूबे गाँठती थी। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में वर्फ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी आंखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के जार (सम्राट) अपने को पूर्वीय रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही ऑर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेन्टसोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में जारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा, तब यूरोप की और शक्तियां घबराईं। इंग्लैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई; रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई। फिर वही राजनीतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई, और उसमें इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊंचे सिद्धान्त रखे गए आजादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के, लेकिन पर्दे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तजार में उसके

बंटवारे के मनसूबे निश्चित किये गए।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले जारों का रूस ही खत्म हो गया। वहां क्रान्ति हुई, और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि ये यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहते। हरेक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—खासकर अंग्रेजों ने—कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान खलीफा जरूर मौजूद थे; लेकिन वह एक गुड्डे की भाँति थे; जिधर मोड़ दिये जायँ, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मस्जिद थी; लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढ़ने जाते थे?

सुलतान ने सर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन मिली, और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबिले से हट गया, और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम

होता था। इंग्लैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या ?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमालपाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबिला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुलतान खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार (देश-द्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को, हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपन को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर होगया–एक छोटा सा शहर; लेकिन तुर्कों की एक नई शक्ति का नमूना। कुस्तुन्तुनिया नाम भी बदल गया–वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफीया ? उसका क्या हशर हुआ ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है, और जिन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगन्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती है, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज उसके कानों में आई और नमाज पढ़ने वालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है,—इसी साल १९३५ में —गाजी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का

दिया गया है) के हुक्म से आया सुफ़ीया मस्जिद नहीं रही। बग़ैर किसी धूमधाम के वहाँ के होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वग़ैरा) हटा दिये गए और अन्य मस्जिदों में भेज दिये गए। अब यह तय हुआ कि आया सुफ़ीया बजाय मस्जिद के म्यूज़ियम (संग्रहालय) हो—खासकर बाइज़ेन्टाइन कलाओं का। बाइज़ेंटाइन ज़माना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई ज़माना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइज़ेंटाइन कला खत्म हो गई, इसलिए अब आया सुफ़ीया एक प्रकार से फ़िर ईसाई ज़माने को वापस चली गई—मुस्तफ़ा कमाल के हुक्म से!

आजकल वहाँ ज़ोरों से खुदाई हो रही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है और पुराने मोज़ाइक्स निकल रहे हैं। बाइज़ेंटाइन कला के जानने वाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गए हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिये। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए; अपने दिमाग को हज़ारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइये; क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या ज़ुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं। उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजुरबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुज़र गये, उन पर ग़ौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की निमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में! दुनिया बदलती रही; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हल्की मुस्कराहट-सी मालूम होती है और

धीमी आवाज-सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवकूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजुरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है।'

७ अगस्त १९३५।

: २५ :

नागरिकता का आदर्श

पुराने जमाने में राज्य करीब-करीब राजा का निजी अधिकार समझा जाता था। राजा का मुख्य काम अपनी प्रजा पर कर लगाना और बाहरी हमलों और भीतरी गड़बड़ और डाकुओं वगैरा से उसकी रक्षा करना था। अपने आदमियों को थोड़ा-सा सुरक्षित बनाकर ही उसका काम समाप्त हो जाता था। अगर वह इतना कर देता था और करों का बहुत कुचल डालने वाला बोझ नहीं लादता था, तो वह अच्छा राजा समझा जाता था। ऐसे राज्यों को 'पुलिस-राज्य' कहा गया है; क्योंकि सरकार का मुख्य कर्त्तव्य पुलिस के कर्त्तव्य की किस्म का था। हमारे भारतीय राज्य भी आज बहुत कुछ उसी तरीके के हैं। जरूरी भेद बस इतना है कि उन्हें अपने आपको बाहरी हमलों से नहीं बचाना पड़ता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार भी मुख्यतः पुलिस सरकार ही थी। उसने राज्य की शिक्षा, संस्कृति उद्योग, औषधि, सफाई की तरक्की के लिए कुछ नहीं किया। धीरे-धीरे परिस्थितियों ने मौजूदा राज्य के अनेकानेक कामों में उसे दिलचस्पी लेने के लिए बाध्य किया, हालांकि उसकी दिलचस्पी ज्यादा आगे नहीं गई और उससे नतीजा भी कुछ नहीं निकला।

पहले-पहल शहरों में नागरिकों के लिए रक्षा-मात्र से कुछ अधिक करने के लिए विचार पैदा हुआ। शहरों में बहुत से आदमियों के निकट-संबंध से सहकारी क्रियाओं और संस्कृति की उन्नति हुई। नागरिक आदर्श से यह विचार पैदा होता है कि नागरिकों को सामान्य मनोरंजन के साधन मिलने चाहिए। सड़कें और पुल जो निजी तौर पर अधिकार में थे और जिन पर कर लगाते थे, वे सर्वसाधारण की सम्पत्ति होगये

और बिना किसी तरह के कर के सबके लिए खुल गये। सफाई, रोशनी पानी, शफाखाने, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सहायता, बाग-बगीचे, मनोरंजन के मैदान, स्कूल और कालेज, लाइब्रेरी और अजायबघर, वे सब म्यूनिसिपैलिटी के हाथ में आ गये। आज म्यूनिसिपैलिटी का कर्त्तव्य यही नहीं है कि ये चीजें बिना पैसे नागरिकों को उपलब्ध करा दे, बल्कि यह भी है कि कला-भवन, थियेटर, संगीत और, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, हरेक नागरिक के लिए उपयुक्त घर की व्यवस्था करे। लेकिन स्पष्ट रूप से आज सबसे ज्यादा जरूरत तो खाने की है। और उस आदमी को जिसके पास खाना नहीं है, कला और संस्कृति देना तो उसकी हँसी उड़ाना है। इसलिए मौजूदा म्यूनिसिपैलिटी का आज कर्त्तव्य है कि वह देखे कि उसकी हद में कोई भूखा न मरे। जो आदमी बेकार हैं, उन्हें काम मिले और अगर काम की व्यवस्था न हो सके तो उन्हें खाना दिया जाय। यही आज नागरिकता का आदर्श है, हालांकि कोई ही म्यूनिसिपैलिटी उसको पूरा करती है। हिन्दुस्तान में अब भी उस आदर्श की झलक पाने से भी हम बहुत दूर हैं।

इस नागरिकता के आदर्श ने धीरे-धीरे राज्य पर भी अपना असर डाला और उसके साथ राज्य की चारों दिशाओं में प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। 'पुलिस-राज्य' बदल कर मौजूदा राज्य के रूप में—एक जटिल यान्त्रिक सरकार जिसकी प्रवृत्तियों के बहुत से विभाग और दायरे हैं और हरेक नागरिक के साथ उसके बहुत से सम्बन्ध हैं— परिणत कर दिया गया। उसे बाहरी हमले और भीतरी गड़बड़ से ही सुरक्षित नहीं रखा गया, बल्कि उसने उसे शिक्षा दी, उद्योगों का ज्ञान कराया, उसके रहन-सहन के दर्जे को उठाने की कोशिश की, सांस्कृतिक विकास के लिए उसे अवसर दिये, बीमे की योजना उसे दी जिससे वह अनहोनी जरूरियात का मुकाबिला कर सके। और सब तरह के साधन उसे दिये और उसे काम और खाना देने का जिम्मेदार उसने अपने को बनाया। नागरिकता का आदर्श फैलता गया। आज वह मौजूदा सामाजिक विधान में जितना फैल सकता था

उतना फैल गया है और जब तक वह विधान, जैसा कि वह है, रहता है, तब तक उसकी आगे तरक्की नहीं हो सकती।

सच्ची नागरिकता का आदर्श तो समाजवादी यानी कम्युनिस्ट आदर्श है। उसका मतलब है कि आदमी की कोशिश से कुदरत जो सम्पत्ति पैदा करती है, उसका सामान्य उपभोग हो। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब मौजूदा सामाजिक विधान में तब्दीली हो और समाजवाद उसकी जगह चलाया जाय।

दिसम्बर १९३३।

: २६ :

शिष्टाचार

बहुत-से कारणों से अखबारनवीसी की दुनिया में मैं 'न्यूज' (खबर) समझा जाता हूँ और अक्सर कहानियां बनाकर मेरे चारों ओर खड़ी की जाती हैं। जो लोग सार्वजनिक काम करते हैं वे अगर जनता में मशहूर हो जाते हैं तो उनकी अखबारी कीमत जरूर हो जाती है। मैं बहुत-से पत्रकारों और पत्र-प्रतिनिधियों के सम्पर्क में आता हूँ और मुझे यह मानना चाहिए कि उन्होंने मेरे साथ हमेशा नम्रता का व्यवहार किया है और उदारता दिखाई है—शायद इसीलिए कि उन्होंने मुझे अपनी-जैसी भावनाओं का पाया है। वास्तव में मैं उनके साथ एक तरह का भाई-चारा मानता हूँ; क्योंकि पत्रकारों के-से विचार मुझमें हैं। दूसरी जगहों की तरह यहाँ मलाया में भी अखबार वालों ने मेरे साथ उतनी ही उदारता दिखाई है।

कुछ आलोचनाएँ मेरे बारे में की गई हैं, और कभी-कभी जो कुछ मैंने कहा, या किया है, वह पसंद नहीं किया गया। ऐसा मैं चिढ़कर नहीं कह रहा हूँ। आलोचनाएँ तो मुझे पसंद हैं। वे मुझे दूसरों की निगाहों से अपनी ओर देखने में मदद देती हैं। एक सवाल को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का और मौजूदा जिन्दगी की उलझनों में सोचने का मौका भी मिलता है। और अगर अखबार ही आलोचना न करेंगे तो और कौन करेगा? अखबारों का यह सबसे मुख्य काम है और आजकल सार्वजनिक कामों में अखबारों को बहुत खास हिस्सा लेना है।

मुझ पर अपराध लगाया है कि मैं सभ्यता के खिलाफ काम करता हूँ, सदाचार की मुझमें कमी है, मेजबानों के साथ मैं अभद्र हो जाता हूँ

और मुझे जिस तरह वर्ताव करना चाहिए उस तरह वर्ताव नहीं करता। ऐसे मामलों में मैं अनिवार्य रूप से पक्षपाती हूँ और चाहे जितना मैं अवैयक्तिक या वाह्य रूप से इन बातों पर विचार करूँ; लेकिन मेरी चेतना मुझे निष्पक्ष नहीं होने देती। फिर भी अपने वर्ताव का मैं निरीक्षण किया करता हूँ और अपने कामों और कथनों में भी व्यवस्था रखने की कोशिश करता हूँ। इतने पर भी कभी-कभी भटक जाता हूँ तो इसमें अचरज क्या है? काम इतने रहते हैं कि कभी उनका अन्त नहीं दीखता और इसी से मेरी नसें विद्रोह कर बैठती हैं। मेरी जिन्दगी अजीबोगरीब है।

ऊपर लिखी बातों का अपराधी मैं कहाँ तक रहा? मैं नहीं जानता कि इसका कारण किस हद तक जो कुछ मैंने किया है या कहा है, उसका मलाया के लिए अनोखापन है। यहाँ के उच्चवर्गीय वायुमण्डल में, जो सुन्दर है पर दिखावटी भी है, मैं आया, लेकिन मेरे पैर खेतों, कारखानों और बाजारों की धूल से भरे थे और मेरा हाव-भाव या मेरे तौर-तरीके उच्चवर्गीय विचारों के नहीं थे। और-और जगहों पर तो उच्चवर्गीय नियंत्रण खत्म हो चला है और असलियत की दुनिया लगातार उनके दरवाजे को खटखटा रही है और कभी-कभी अन्दर जाने का रास्ता भी वह बना लेती है।

मलाया में आने का मेरा खास विचार यह नहीं था कि यहाँ की भीड़ से मिलूँ या उसे व्याख्यान दूँ। मैं तो यहाँ के शान्तिप्रद दृश्यों के बीच विश्राम करने आया था; लेकिन भीड़-की-भीड़ मेरे पास आई और मुझे घेर लिया। उनकी चमकती हुई आँखों और अगाध प्रेम ने मेरे हृदय में प्रतिध्वनि पाई। हिन्दुस्तान की हमारी लड़ाई, हमारी आशा और भय, हमारी नवीन शक्ति और स्वावलम्बन, गरीबी और बेकारी का अंत कर देने का हमारा पक्का विचार, लम्बी-लम्बी वेदनामय रातें जो प्रभात होने से पहले बितानी होती हैं, ये सब बातें सुनने के वे इच्छुक थे। मैंने उन्हें ये बातें सुनाईं।

भीड़ जो मेरे पास आई उसे उच्चवर्ग के तौर-तरीकों की शिक्षा नहीं मिली थी। प्रबन्ध काफी न होने के कारण खूब धक्का-मुक्की हुई और गड़बड़ हुई। जब मैंने गड़बड़ को दूर करने के और तरीके इख्तियार किये तो कुछ आदमियों ने सोचा कि मैं आपे से बाहर हो गया हूँ। ज्यादातर गड़-बड़ की वजह तो यह थी कि बहुत से आदमियों को मैं दिखाई नहीं दे रहा था। मैं मेज पर खड़ा हो गया, ताकि आदमी मुझे देख लें। दूसरे मौकों पर मैं भीड़ को चीर कर शान्ति करने के लिए वहाँ पहुँच गया जहाँ पर कि भीड़ बहुत ज्यादा थी।

इन छोटी-सी बातों का मैंने हवाला दिया है; क्योंकि इनकी आलो-चनाओं से दूसरे और खास दोषों पर रोशनी पड़ती है। ये अजीब बातें थीं, जिनके मौजूदा पत्रकार आदी नहीं थे। उन्होंने उनका उलटा अर्थ लगाया या नाराजी जाहिर की।

यही बात मेरे व्याख्यानों के साथ हुई। कहीं पर तो उनकी रिपोर्ट ही गलत की गई; क्योंकि रिपोर्टर मेरे उद्देश्य को समझ नहीं सके। असल बात यह थी कि मेरा दृष्टिकोण बहुत से आदमियों के लिए अजीब था। वे शायद पहले उसके बारे में सुन चुके थे और उन्होंने उसे पसन्द नहीं किया था और न उसको कोई विशेषता ही दी। अब जब वह तीक्ष्णता से बिना किसी लगाव-लिपटाव के उनके सामने आया तो हक्के बक्के हो गए। उन्होंने मुझसे सीधे सवाल किये। मुझे भी क्या उनके उत्तर सीधे ही नहीं देने चाहिए थे? लेकिन वास्तव में वह उनके लिए और जनता के लिए अशिष्टता होती।

अपने व्याख्यानों में मैंने सीधी-सादी भाषा में, जो कि पढ़े-लिखे और कुपढ़ दर्शकों की लम्बी-चौड़ी भीड़ के सामने बोलनी चाहिए थी, हिन्दु-स्तान के मसलों को जितना वैज्ञानिक ढंग से समझा सकता था समझाने की कोशिश की। मैं चाहता था कि मेरे आलोचक मुझे बताते कि कहाँ मैंने गलत तकरीर की। वह आलोचना और नाराजी से कहीं अधिक फायदे-मन्द होता। हमारा फर्ज है कि मसलों को समझें और उन्हें सुलझावें,

न कि उनसे इसलिए दूर भागें क्योंकि हम उन्हें पसंद नहीं करते। मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कामों की आलोचना की और बताया कि हिन्दुस्तान अपनी आजादी के लिए लड़ रहा है। यही तो हमारी आजादी की लड़ाई की बुनियाद है। इसको साफ़ किये बिना हिन्दुस्तान के बारे में कुछ कहना ही बेकार होता। आदमियों के खयालात हमसे जुदा हो सकते हैं। अपने खयालात का उन्हें अधिकार है। लेकिन सवाल यह है कि आया इन अहम मसलों को इसलिए दबा लिया जाय कि उसे उच्च-वर्ग के लोगों की नाज़ुक-दिली को चोट लगती है? अपनी तो मैं कहता हूँ, कि मशीन-जैसे आदमियों के लिए, जिनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है और उन आदमियों की हां में हां मिलाते रहते हैं; जिनके हाथ में शक्ति है, उनके लिए मेरे दिल में जगह नहीं है। संगठित शक्ति को भी चाहिए कि अगर वह दूरदर्शी है और वास्तविकता के सम्पर्क में रहना चाहती है तो उन्हें अधिक प्रोत्साहन न दे।

मुझसे पूछा गया कि है कि क्या मैं ब्रिटिश-विरोधी हूँ, इसका विरोधी हूँ; उसका विरोधी हूँ? ये ऐसे सवाल हैं जिनसे पता चलता है कि सवाल करने वाले ने हमारे आजकल के मसलों को बिलकुल नहीं समझा है। हम तो इस विरोध की अवस्था से आगे बढ़ गये हैं। मैं तो विस्तृत और मुख्य-मुख्य लाइनों पर अपनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता हूँ। अगर 'ब्रिटिश' का अर्थ 'ब्रिटिश' आदमियों से है, तो मुझे ब्रिटिश-विरोधी क्यों होना चाहिए? मैं खुद उनका बहुत अहसानमन्द हूँ। उनकी भाषा और उनके साहित्य से मेरा सम्बन्ध है और उसमें बहुत से मेरे मित्र हैं। लेकिन मैं साम्राज्यवाद और साम्राज्य के खिलाफ़ हूँ, जहाँ कहीं वह हो, क्योंकि मेरा अनुमान है कि वह दुनिया की प्रगति के रास्ते में रोड़ा अटकाता है।

अगर हम मौजूदा हालतों से सन्तुष्ट नहीं हैं—और क्या कोई ऐसा बुद्धिमान और सचेत आदमी है जो सन्तुष्ट है?—तो दुनिया के मसलों को हमें यथासंभव निस्पृह होकर समझने की कोशिश करनी चाहिए और

उस पहलू पर हमें अपनी ताकत लगा देनी चाहिए जिससे उनका हल मिलता हो। मलाया में, जो प्राकृतिक साधनों का भण्डार है, मैंने महसूस किया है कि दुनियाभर से बुरी हालत है। ऐसा मैंने कहीं नहीं देखा। कैसी अजीब बात है? मैं जानता हूँ कि मलाया में दुनिया भर की प्राकृतिक सम्पत्ति है। इतने बड़े भण्डार को लेकर, जो प्रकृति ने हमें दिया है, और विज्ञान और उद्योगों के द्वारा उन साधनों से लाभ उठाने की अमोघ शक्ति पाकर भी, क्या इस दुनिया को हम सब के लिए स्वर्ग नहीं बना सकते? लेकिन इतनी वर्तमान प्रचुरता और उससे भी अधिक भविष्य में मिलने की आशा होते हुए भी हम छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते हैं। आदमी आदमी का शोषण करता है, राष्ट्र राष्ट्र का। भावी अन्तर्राष्ट्रीय संकट हमारी जिन्दगी में निराशा भर जाता है लेकिन वह दिन आनेवाला है जब कि इस जटिल गोरखधंधे से बाहर होने का हम रास्ता निकालेंगे और सामान्य हितों और मानव-जाति की उन्नति के लिए पारस्परिक सहयोग देंगे।

१ जून १९३७।

: २७ :

जेलखाने की बातें

हाल ही के एक अंग्रेजी-अखबार में एक लेखक ने लिखा है कि राज-नीति के बोझ और जेल की जिन्दगी से मैं मर मिटा हूँ। मैं नहीं जानता कि यह खबर उन्हें कैसे और कहां से मिली; लेकिन अपने शरीर और दिमाग को अच्छी तरह से टटोलकर मैं यह कह सकता हूँ कि दोनों खूब मजबूत और ठीक हैं और जल्दी ही उनके बिगड़ने या गिरने का कोई खतरा नहीं है। अपने लिए खुशकिस्मती से मैं हमेशा शारीरिक स्वास्थ्य और योग्यता को प्रधानता देता रहा हूँ और हालांकि मैंने अक्सर अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है, फिर भी मैंने उसे कभी बीमार नहीं पड़ने दिया है। दिमागी तन्दुरुस्ती तो ज्यादा दिखाई नहीं देती; लेकिन उसकी भी मैंने काफी चिन्ता रखी है। और मैं ख्याल करता हूँ कि मेरी दिमागी तन्दुरुस्ती उन बहुत-से आदमियों से अच्छी है जिन पर सक्रिय कांग्रेस-राजनीति का बोझ नहीं पड़ा और न जिन्होंने जेल की जिन्दगी ही बिताई है। इसे चाहे मेरी खामखयाली ही क्यों न कहा जाय।

लेकिन मेरी तन्दुरुस्ती या बीमारी मामूली बात है, जिससे किसी को चिन्ता नहीं होनी चाहिए, हालांकि मेरे मित्रों और अखबारों ने इस बात को बहुत महत्त्व दे दिया है। राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टिकोण से महत्त्व की चीज तो जेलों की और उन बहुत-से आदमियों की शारीरिक और दिमागी हालत है जो हिन्दुस्तान में रहे हैं। यह बात सब कहते हैं कि मजबूत और बहादुर आदमी भी बहुत दिनों की जेल की जिन्दगी के भारी बोझ से मर मिटते हैं। मैंने अपने प्रियजनों को जेल में दुःख सहते देखा है और मेरे उन दोस्तों की, जिन्होंने दुःख उठाये हैं, एक बड़ी लम्बी-चौड़ी दुःखभरी सूची है। अभी हाल ही में मेरे एक अनमोल साथी जिनसे मैं

पच्चीस से कुछ ज्यादा बरस पहले केम्ब्रिज में मिला था और जो हमारे इस अभागे मुल्क में बहादुरों से भी बहादुर थे—जे० एम० सेन गुप्ता—[1] जेल में ही मरे।

यह स्वाभाविक है कि हम अपने साथियों और परिचितों के दुःख को उन हजारों आदमियों के दुःख की बनिस्बत ज्यादा महसूस करें जिन्हें हम जानते तक नहीं हैं। फिर भी उन्हीं के बारे में मैं ये चन्द लाइनें नहीं लिख रहा हूँ। हम, जिन्होंने खुशी से जेल के लोहे के फाटकों के भीतर रहना पसन्द किया, जेल के बर्ताव पर न तो शोर ही मचाना चाहते हैं और न उसकी शिकायत ही करना चाहते हैं। अगर हमारे मुल्क के आदमी इस बात में दिलचस्पी रखते हैं, और इस सवाल को उठाना चाहते हैं तो उठा सकते हैं। ऐसे सवाल अक्सर उठाये जाते हैं। लेकिन नियम तो ऐसा हो गया है कि वे सवाल बड़े आदमियों से ही सम्बन्ध रखते हैं और उन बड़े आदमियों की सामाजिक विशिष्टता की बुनियाद पर जेल में उनके साथ अच्छा बर्ताव किये जाने की माँग पेश की जाती है। उसी असंतोष को मिटाने के लिए कुछ थोड़े-से आदमियों को 'ए' और 'बी' दर्जे में रख दिया जाता है, ज्यादातर आदमियों को तो, शायद ९५ फीसदी से ऊपर, जेल की जिन्दगी की कड़ी-से कड़ी सख्तियां उठानी पड़ती हैं।

इन जुदा-जुदा दर्जों में ऊँच-नीच के बर्ताव की आलोचना अक्सर की गई है और वह ठीक ही है। कुछ तो वह तन्दुरुस्ती की बुनियाद पर ठीक है : क्योंकि यह बहुत मुमकिन है कि कुछ आदमी जो दूसरी तरह की खुराक के आदी हैं, उन्हें अगर जेल की खुराक पर ही रहना पड़े तो उनमें कोई खास गड़बड़ पैदा हो जाय, जैसा कि बहुतों के साथ हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि कुछ आदमी शरीर से बहुत ज्यादा मिहनत नहीं कर सकते। लेकिन इसके अलावा यह कैसे उचित समझा जाय कि वे हकूक जो दूसरे दर्जों के कैदियों को दिये जाते हैं, वे 'सी' दर्जे के कैदियों को न

---

१. बंगाल-कांग्रेस के विख्यात नेता। जेल काटने की वजह से प्रारम्भिक चालीस वर्ष की आयु में सन् १९३४ में मृत्यु हो गई।

मिलें ? ऊँचा दर्जा तो शायद लोगों की 'सामाजिक विशिष्टता' या ऊँची रहन-सहन की वजह से दिया जाता है। मुझे यकीन है, एक बात तो यह देखी जाती है कि वह कितनी मालगुजारी देता है। क्या ज्यादा मालगुजारी देने की ही वजह से यह अर्थ निकलता है कि उसकी मोह-ममता उसके घरवालों से ज्यादा है और इसलिए उसे ज्यादा मुलाकातें करने और चिट्ठी भेजने का हक होना चाहिए ? या कि पढ़ने लिखने की सहूलियतें उन्हें ज्यादा मिलनी चाहिए ? ज्यादा मालगुजारी देनेवाले तो अक्सर दिमाग के बहुत ज्यादा तेज नहीं पाये जाते।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि उन आदमियों से, जिन्हें मुलाकातों की और पढ़ने-लिखने की सुविधायें दी जाती हैं, वे छीन ली जायँ। ये हकूक तो जैसे कि वे हैं, कुछ भी नहीं हैं। हमें यह जानना चाहिए कि बहुत-से दूसरे मुल्कों में बुरे-से-बुरे, नीच-से-नीच कैदी को भी हिन्दुस्तान के 'ए' दर्जे के कैदी के हकूकों से कहीं ज्यादा हकूक मिलते हैं। और फिर भी यहां 'ए' और 'बी' दर्जों के हकूक इतने कम आदमियों को दिये जाते हैं कि हिन्दुस्तान के जेलखानों की हालतों पर विचार करते वक्त उन्हें भुलाया जा सकता है। असल में 'ए' और 'बी' दर्जे दिखावे और जन-मत को बहलाने के लिए दिये जाते हैं। बहुत-से आदमी जो असलियत नहीं जानते, वे भ्रम में पड़ जाते हैं।

कुछ 'ए' दर्जे के कैदियों और खास तौर से कुछ नजरबन्दों या शाही कैदियों को अक्सर एक नया तजुरबा करना पड़ता है, जो बेहद दुखदायी है। एक-एक वक्त में महीनों उन्हें अकेला बिना साथी के रखा जाता है और जैसा कि हर डाक्टर जानता है, इस तरह अकेला रहना औसत आदमी के लिए बुरा है। सिर्फ वही आदमी इसके बुरे असर से बच सकते हैं जिन्होंने अपने को अकेले रहने के योग्य बना लिया है और जो अपने भीतर-ही-भीतर रह सकते हैं। यह ठीक है कि कैदी को या नजरबन्द को चन्द मिनटों तक जेल के किसी अधिकारी के साथ बातचीत करने की आजादी दी जाती है; लेकिन यह ऐसी आजादी है, जिस पर खुशी

के ढोल नहीं पीटे जा सकते। यह कालकोठरी की सजा सरकार साफ तौर से जान-बूझ कर देती है। मुझे याद है, उस वक्त जब मैं दिसम्बर १९३१ में गिरफ़्तार हुआ था, खान अब्दुलगफ्फारखां भी पेशावर या छरसद्दा में गिरफ्तार हुए थे। एक ही वक्त में चार गिरफ्तारियां हुईं थीं...उत्तर-पश्चिम सरहद के खुदाई खिदमतगारों के नेता खान अब्दुल-गफ्फारखां, उनके भाई डाक्टर खानसाहब, डा० खानसाहब का छोटा लड़का, और एक उनका साथी। उन चारों को एक स्पेशल ट्रेन से ले जाया गया और चार शहरों की जुदा-जुदा चार जेलों में उन्हें रखा गया। इसमें क्या मुश्किल होती, अगर सबको या बाप और बेटे और भाइयों को एक साथ रख दिया जाता? ऐसा तो आसानी से किया जा सकता था; लेकिन जान-बूझकर ऐसा नहीं किया गया। डाक्टर खानसाहब के बारे में मैं जानता हूँ कि वह अकेले ही नैनी-जेल में रखे गये। एक महीने से कुछ ज्यादा मैं भी नैनी जेल में रहा; लेकिन हमें एक-दूसरे से दूर ही रखा गया। आपस में मिलने की हमें इजाजत नहीं थी। मेरे लिए डाक्टर खानसाहब से मिलना एक लालच की चीज थी; क्योंकि वह, जब मैं विलायत में पढ़ता था, तब के मेरे दोस्त थे और बरसों से मैं उनसे मिला भी नहीं था।

यह सवाल राजनीतिक कैदियों के साथ रियायती बर्ताव का नहीं है। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि राजनीतिकों के साथ वह बर्ताव और बुरा ही होता जायगा, जैसा कि पिछले बारह सालों में हुआ है। जन-मत के जाग्रत होने से ही वह रोका जा सकता है; लेकिन जन-मत को भी आखिरी सहारा नहीं गिनना चाहिए जब तक कि वह उतना मजबूत न हो कि उससे कामयाबी की पूरी उम्मीद हो।

इसलिए यह स्पष्ट है कि राजनीतिक कैदियों को बढ़ते हुए बुरे बर्ताव की ही उम्मीद रखनी चाहिए। १९२१-२२ की बनिस्बत १९३०-३१ में वह बर्ताव और भी बुरा हुआ। सन् १९३०-३१ की बनिस्बत १९३२ में और भी बुरा! आज जेल में एक मामूली राजनीतिक कैदी की हालत

अराजनीतिक कैदी की बनिस्बत कहीं ज्यादा खराब है। धमकाकर माफी मँगवाने के लिए या कम-से कम उसे जेल में पूरी तरह से परेशान कर देने के लिए अक्सर हर तरह की कोशिशें की जाती हैं।

सर सेम्युअल होर की तरफ से कामन्स सभा में कहा गया था कि "हिन्दुस्तान में ५०० से ज्यादा आदमियों के सन् १९३२ में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में कोड़े लगाये गए थे।" कोड़े मारने या न मारने के रिवाज से अक्सर यह आँका जाता है कि अमुक राज्य कितना सभ्य है। बहुत से सभ्य राज्यों ने इस रिवाज को एकदम बन्द कर दिया है, और जहां पर यह रिवाज चालू है वहां भी सिर्फ उन्हीं जुर्मों के लिए कोड़े लगाये जाते हैं जिन्हें नीच-से-नीच या हैवानी समझा जाता है, जैसे छोटी उम्र की लड़कियों पर बलात्कार, वगैरा। शायद कुछ महीने पहले कुछ (अरा-जनीतिक) जुर्मों के लिए कोड़े की सजा कायम रखने के सवाल पर असे-म्बली में बहस हुई थी। सरकारी वक्ताओं ने कहा था कि कुछ हैवानी जुर्मों के लिए कोड़े की सजा जरूरी है। शायद हरेक दिमागी और रूहानी आदमी की राय इसके खिलाफ है। उनका कहना है कि हैवानी जुर्मों के लिए हैवानी सजा देना सब से बेवकूफी का तरीका है। लेकिन चाहे जो कुछ हो, हिन्दुस्तान में पूर्ण राजनीतिक और टैकनीकल जुर्मों के लिए या जेल की व्यवस्था के खिलाफ छोटे-मोटे जुर्मों के लिए कोड़े लगाना आम रिवाज है। और इसमें निश्चित ही कोई नैतिक कमीनापन नहीं माना जाता।

राजनीतिक स्त्री कैदियों के साथ तो और भी सख्ती का बर्ताव किया जाता है। हजारों औरतों को जेल में डाला गया; लेकिन उनमें से बहुत थोड़ी औरतों को 'ए' या 'बी' दर्जा दिया गया। जेल में स्त्रियों की—राजनीतिक या अराजनीतिक—हालत आदमियों की हालत की बनि-स्बत कहीं गई-बीती है। आदमी अपने-अपने काम से जेल के भीतर इधर-उधर घूम तो लेते हैं। उनका मन बहल जाता है, हिलना-डुलना भी हो जाता है और इससे कुछ हद तक उनका मन ताजा हो जाता है। औरतों को हालांकि कुछ हलका काम दिया जाता है, पर उन्हें तंग जगह में

पास-पास रख दिया जाता है। वे बेहद रूखी जिन्दगी बिताती हैं। औसत अपराधियों की बनिस्बत अपराधिनी स्त्रियां भी साथिन के रूप में कहीं बुरी होती हैं। आदमियों में बहुत-से ऐसे होते हैं जो बिलकुल बेकसूर-से होते हैं, उनमें बहुत से सभ्य ग्रामीण खेत के मामले में झगड़कर अंत में लम्बी सजायें पाते हैं। आदमियों की बनिस्बत औरतों में अपराध की भावना ज्यादा होती है। ज्यादातर राजनीतिक स्त्री कैदियों को, जिनमें बहुत-सी सुन्दर जवान लड़कियाँ भी होती हैं, इस दम घोंटनेवाले वायुमंडल को बर्दाश्त करना पड़ता है। मुझे दिखाई देता है कि हमारे जेल के भीतर या बाहर जितनी चीजें होती हैं, उनमें शायद ही कोई इतनी बुरी हो जितना कि औरतों के साथ होनेवाला बर्ताव।

मैं नहीं चाहता कि किसी भी औरत के साथ—चाहे वह मध्यवर्ग की हो, या किसान या मजदूर-वर्ग की—ऐसा बर्ताव किया जाय जैसा कि हमारी जेलों में किया जाता है। ज्यादातर राजनीतिक कैदिनें बड़े घर की या मध्य वर्ग की होती हैं। किसान राजनीतिक मामले में जेल चला भी जाता है; लेकिन किसान औरतें तो शायद ही कभी जाती हैं। सरकार के दृष्टिकोण से विचार करते हुए औरतों का सामाजिक दर्जा कहीं ज्यादा ऊँचा होता था।

पिछले साल यू० पी० की लेजिस्लेटिव कौंसिल में उस वक्त के गृह-सदस्य ने यह कह कर मेम्बरों को चकित कर दिया कि अगर जेलों में राजनीतिकों की हालतों में सुधार कर दिया गया तो डाकू भी राजनीतिक कैदी बन-बनकर जेल में आया करेंगे। मुझे यकीन है, उन्होंने ऐसी दलील औरतों की हालत सुधारने के बारे में भी दी थी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दलीलें उनके ऊँचे श्रोताओं के लायक थीं और उनसे उनका मतलब भी पूरा हुआ। इसमें से जो बाहरी बातों को नहीं जानते, उनके लिए गृह सदस्य के ज्ञान और समझ की गहराई का अन्दाज लगाना बड़ी दिलचस्पी की चीज होगी! चोर-डाकुओं की प्रकृति की समझ, अपराध-शास्त्र, मनोविज्ञान और मानव-प्रकृति का ज्ञान उन्हें कितना है, यह उनके

कथन से जाहिर होता है। इन दलीलों से हम कुछ नतीजों पर पहुँचते हैं; जो शायद गृह-सदस्य के दिमाग में नहीं आये। अगर एक डाकू अपने पेशे को छोड़कर जेल जाने के लिए तैयार है, बशर्ते कि जेल में ज्यादा सख्ती न हो, तो इससे यह नतीजा निकलता है कि अगर जेल के बाहर उसे थोड़ा-बहुत जिन्दगी का सहारा मिल जाय और उसकी मामूली जरूरतें पूरी होती रहें तो वह डाका मारने और अपराध करने को छोड़ने के लिए कहीं ज्यादा तैयार होगा। इसका मतलब यह है कि डाका डालने के लिए उस पर दबाव भूख-प्यास और मुसीबत का पड़ता है। इस दबाव को दूर कर दीजिए, डाका डालना खत्म हो जायगा। इस तरह डाके और अपराध का इलाज सख्त सजा नहीं है, बल्कि उसके बुनियादी कारणों को दूर करना है; लेकिन इतने गहरे और क्रान्तिकारी खयालात के लिए पिछले साल के गृह-सदस्य को जिम्मेदार बनाने की मेरी इच्छा नहीं है, हालांकि उन्होंने जो कुछ कहा उससे ऐसे खयालात पैदा हो सकते हैं। दूसरे और ऊँचे ओहदे पर बैठकर वे अपने अर्थ-शास्त्र के गहरे ज्ञान की झलकें कभी-कभी हमें ले लेने देते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी मिथ्या दृष्टि को उन्हें छोड़ना पड़ेगा।

राजनीतिक कैदियों में अलहदा-अलहदा दर्जा करने के बारे में अक्सर सरकार से कहा गया है; लेकिन उसने वैसा करने से इन्कार कर दिया है। मेरे खयाल से, मौजूदा हालतों में, सरकार ने ठीक किया है; क्योंकि राजनीतिकों को मालूम कैसे किया जाय? सविनय अवज्ञा करने वाले कैदियों को आसानी से अलहदा किया जा सकता है; लेकिन राजनीतिक कानूनों और नियमों की धाराओं को छोड़कर राजनीतिक विद्रोही को पकड़ने के और भी-बहुत से तरीके हैं। देहातों में तो यह आम रिवाज है कि किसान-नेता या कार्यकर्त्ता जाब्ता फौजदारी की निरोधक धाराओं के मातहत या उससे भी बड़े जुर्मों के लिए पकड़े जाते हैं। वे आदमी उतने ही राजनीतिक कैदी हैं जितने दूसरे, और ऐसे आदमियों की तादाद बहुत थोड़ी है! यह पद्धति बड़े शहरों में प्रकाशन की वजह से ज्यादा

नहीं पाई जाती।

ऊँची दीवारें और लोहे के दरवाजे जेल की छोटी-सी दुनिया को बाहर की विस्तृत दुनिया से अलग कर देते हैं। इस जेल की दुनिया की हरेक चीज जुदा है। लम्बी मियाद के कैदियों और आजीवन कारावास भुगतनेवालों के लिए उसमें कोई रस नहीं है, तब्दीली नहीं; न उम्मीद है, न खुशी। नीरसता से भरी उनकी जिन्दगी जैसे-तैसे कटती रहती है। वह तो चौपट रेगिस्तान है, जिसमें कोई सुन्दर स्थान नहीं है, और न प्यास बुझाने के लिए या जलती हुई धूप से बचने के लिए कोई हरी-भरी जगह ही है। दिन बीतते-बीतते हफ्ते बीत जाते हैं और हफ्तों के बाद महीने साल और जिन्दगी खत्म हो जाती है।

राज्य की तमाम ताकत उसके खिलाफ है। मामूली-सी भी रोक-थाम उसे नहीं मिलती। उसके दुःख की कराह दबा दी जाती है। उसकी पीड़ित पुकार जेल की ऊँची दीवारों के बाहर तक सुनाई नहीं पड़ सकती। उसूलन कुछ रोक-थामें हैं और बाहर से मुलाकाती और अफसर लोग मुआइना करने के लिए आते हैं; लेकिन कभी ही कैदी को उनसे शिकायत करने की हिम्मत होती है। और जो हिम्मत करके शिकायत करते भी हैं, उन्हें उसके लिए दुःख भी सहना पड़ता है। मुलाकाती तो आकर चले जाते हैं, जेल के मामूली अफसर रह जाते हैं, उन्हींके साथ कैदी को अपने दिन बिताने पड़ते हैं। इसमें ताज्जुब नहीं कि कैदी अपनी मुसीबतों को बढ़ाने के खतरे को उठाने के बनिस्बत अपने दुःखों को सह लेना ज्यादा पसन्द करता है।

बहुत-से राजनीतिक कैदियों के आने से जेल की अन्धेरगर्दी पर कुछ रोशनी पड़ी। ताजा हवा अन्दर आई और साथ में लम्बी मियाद के कैदियों के लिए कुछ आशा भी लाई। जन-मत में जागृति हुई और कुछ सुधार हुए। लेकिन सुधार थोड़े ही हुए और जरूरी तौर पर व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रही। कभी-कभी जेलों में 'विद्रोह' होते सुने जाते हैं। इससे क्या बात जाहिर होती है? शायद इसमें दोष कैदियों का ही हो। जेल की ऊँची दीवारों

से घिरे निहत्थे बेबस कैदी के लिए जेल-अधिकारियों की शस्त्रीय ताक़त को चुनौती देना पागलपन की बात नहीं तो क्या है? उससे सिर्फ एक फायदा होता है लोगों में यह भावना पैदा हो जाती है कि सिर्फ बेहद उत्तेजित होने पर ही कैदी ऐसी मूर्खता और मायूसी का काम कर सकते हैं और उत्तेजना का कोई कारण होगा।

जेल की तरफ से या डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की तरफ से जाँचें होती हैं। कैदी को न्याय की क्या उम्मीद हो सकती है? एक तरफ तो पूरी तरह से तैयार किया हुआ मामला होता है, जिसके पीछे जेल के अधिकारी हैं और बहुत-से कैदी जिन्हें उनके कहने पर चलना पड़ता है, दूसरी तरफ डरी, कांपती हुई, ठुकराई मानवता जिसके हथकड़ी-बेड़ी पड़ी है। किसी की हमदर्दी उसके साथ नहीं है; कोई उसका यकीन नहीं करता। यू० पी० सरकार के जुडीशल सेक्रेटरी ने पिछले नवम्बर में प्रान्तीय कौंसिल में कहा था कि उन आदमियों पर जो जेल में पड़े हैं, मामले में एक पार्टी होने के कारण, कभी यकीन न किया जाय। और चूँकि बेचारा कैदी पिटने या उसके साथ बुरा बर्ताव किये जाने के कारण एक पार्टी होता है, इससे उसका यकीन नहीं किया जाता। यह बड़े मजे की बात होगी कि यू० पी० सरकार से पूछा जाय कि ऐसी हालतों में अदृश्य और दैवी ताकत की गवाही से कम और किसकी गवाही वह बेचारा कैदी पेश कर सकता है?

निजी सरकारी जांचों के पीछे अगर दर्दनाक कहानी न होती, तो उसके मजाक को अच्छी तरह समझा जाता। जब कभी कोई पुलिस या जेल के अधिकारियों के खिलाफ कोई जुर्म लगाता है, तो सर सेम्युअल होर गुस्से से उबल पड़ते हैं और सार्वजनिक या निष्पक्ष जांच के लिए बराबर इंकार करते रहते हैं। मुझे याद पड़ता है कि कोई दो बरस पहले हिजली[1]

---

१. बंगाल में एक जगह जहाँ नजरबन्दों—यानी बंगाल के उन आदमियों के लिए निर्वासित कैम्प था, जिन्हें सजा हो गई थी या जिन पर आतंकवाद का या उससे सम्बन्ध रखने का शुबहा किया जाता था।

में डिपार्टमेंट की तरफ से जांच हुई थी और उससे थोड़े ही समय बाद सरकारी जांच ने बताया कि घटनाओं का सरकारी विवरण एकदम गलत है। लेकिन वह तो एक खास मौका था। डिपार्टमेंट की ज्यादातर जांचों की देख-भाल इस तरह कभी नहीं की जाती।

पिछले साल मुझे एक निजी तजुरबा हुआ, जिसकी कुछ खास अहमियत है। जबकि मेरी मां और पत्नी जेल में मेरे बहनोई के साथ मुलाकात कर रही थीं, तब इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट जेल के जेलर ने उनकी बेइज्जती की और जोर से धक्का देकर निकाल दिया। जब मैंने यह सुना, तो मुझे गुस्सा आया; लेकिन फिर भी इस मामूली घटना को मैंने कोई अहमियत नहीं दी, क्योंकि उससे सिर्फ यही बात तो जाहिर होती थी कि एक ऐसे अफसर ने नामुनासिब हरकत की जो शिक्षित नहीं है और जो शिष्टाचार नहीं जानता। मैं उम्मीद करता था कि कोई ऊँचा अफसर इस घटना पर अफसोस जाहिर करेगा; लेकिन वैसा होना तो दूर रहा, उलटे बिना उस बारे में कुछ कहे मेरी माँ, पत्नी और बहनोई को सजा दी गई। अप्रत्यक्ष रूप से मुझे भी सजा मिली, मुद्दत तक मुझे अपनी पत्नी से नहीं मिलने दिया गया। जब मैंने इंसपेक्टर-जनरल से इसकी जाँच की तो एक छोटा-सा जवाब आया, जिसमें मेरी माँ के सम्बन्ध में अशिष्टतापूर्ण बात कही गई थी। सिर्फ इस वक्त ही सरकार मुझसे और मेरी माँ और पत्नी के कथनों से सच्ची बात जान सकी।

यह साफ था कि उन्होंने बड़ी भारी गलती की थी। मेरे बार-बार पूछने पर भी उन्होंने हमारे कथनों में कोई गलती नहीं बताई। मुझे समझ लेना चाहिए कि उन बातों को उन्होंने मंजूर किया जैसा कि उन्हें करना चाहिए था। अगर ऐसा था, पहले उन्होंने बड़ी बेवकूफी का काम किया, तो उसके लिए कम-से-कम उन्हें अफसोस तो जाहिर करना ही चाहिए था। मैं अब भी इन्तजार कर रहा हूँ कि खुले शब्दों में अफसोस जाहिर करें।

अगर ऐसा बर्ताव मेरी माँ और पत्नी के साथ किया जा सकता

है और साथ ही सरकार का अजीब बर्ताव और हठ भी चल सकता है तो यह अच्छी तरह से समझा जा सकता है कि औसत मामूली कैदियों और उनके आदमियों को कैसा बर्ताव सहना पड़ता होगा। हमारी सरकार की तमाम पद्धति, जैसी कि वह बिना आदमियों में जड़ें पौढ़ाए, ऊपर से लगा दी गई है, सिर्फ तभी तक लटकी रह सकती है, जब तक कि एक खूंटी दूसरी को सहारा देती है। यही उसकी ताकत है और खुशकिस्मती से यही उसकी कमजोरी है; क्योंकि जब उस पद्धति का एक बार पतन होता है तो वह पूरी तरह से होता है।

पिछले साल मैंने जेल से गृह-सदस्य को लिखा और मैंने उनसे कहा कि यू० पी० की जेलों की हालतों के बारह बरस के तजुरबों से बहुत दुःख के साथ मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इस प्रान्त की जेलों में व्यभिचार, हिंसा और झूठ एकदम भर गया है। बहुत साल पहले मैंने अपनी जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को (बाद में वह इन्सपेक्टर-जनरल हो गया था) कुछ बुराइयाँ बताई थीं। उसने उन्हें मंजूर किया और कहा कि पहले-पहल जब वह जेल में नौकर हुआ था, तब उसमें सुधार करने के लिए उत्साह था; लेकिन बाद में उसने पाया कि कुछ हो-ही नहीं सकता, इसलिए पुराना ढर्रा उसने चलने दिया।

अकेले आदमियों के लिए असल में कुछ नहीं हो सकता। और बहुत से ऐसे लोग भी कोई आदर्श उदाहरण नहीं हैं, जिन पर जिम्मेदारी है। भारतीय बंदीगृह आखिर बड़े हिन्दुस्तान का ही तो एक छोटा रूप है। महत्त्व की बात तो यह है कि जेल का ध्येय क्या है? आदमियों की भलाई, या एक मशीन का चलाना, या स्थिर स्वार्थों को कायम रखना? सजायें क्यों दी जाती हैं? क्या समाज या सरकार की तरफ से बदला लेने के लिए या अपराधी को सुधारने की नीयत से?

क्या जज या जेल के अफसर कभी इस बात को सोचते हैं कि अभागा अपराधी जो उनके सामने है, उसे ऐसा बना देना चाहिए कि जेल से निकलने पर वह समाज के काबिल हो? ऐसे सवाल उठाना सहज हिमा-

कत की बात है; क्योंकि कितने ऐसे आदमी हैं जो असल में इस बारे में चिन्ता करते हैं ?

हम उम्मीद करें कि हमारे जज बड़े उदार आदमी हैं; निश्चय ही वे बड़ी लम्बी-लम्बी सजायें तो दे ही देते हैं। पेशावर से १५ दिसम्बर १९३२ की एसोशियेटेड प्रेस की खबर है :—

"कोल्डस्ट्रीम के कत्ल के बाद ही सीमाप्रान्त के इन्सपेक्टर-जनरल तथा दूसरे बड़े अफसरों को धमकी-भरी चिट्ठियाँ लिखने के लिए जमनादास नाम के मुलजिम को पेशावर के सिटी मजिस्ट्रेट ने ताजीरात हिन्द की दफा ५०० व ५०७ के अनुसार ८ साल की सजा दी।" जमनादास देखने में लड़का लगता था।

एक और मार्के की मिसाल है। लाहौर से २२ अप्रैल १९३३ की एसोशियेटेड प्रेस की खबर है :—

"सात इंच लम्बे फने का चाकू पास रखने की वजह से सआदत नाम के एक मुसलमान को सिटी मजिस्ट्रेट ने आर्म्स एक्ट की १९वीं दफा के मुताबिक १८ महीने सख्त कैद की सजा दी।"

तीसरी मिसाल मद्रास की ६ जुलाई १९३३ की है। रामस्वामी नाम के एक लड़के ने चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत में, क्योंकि वह एक षड्यंत्र का मुकदमा सुन रहा था, एक पटाखा चला दिया। उससे कोई नुकसान नहीं हो सकता था। फिर भी रामस्वामी को बच्चों के जेल में रहने के लिए चार साल की सजा हुई।

ये तीन मिसालें कोई गैरमामूली मिसालें नहीं हैं। और बहुत-सी मिसालें उनमें जोड़ी जा सकती हैं। उनसे भी बुरी और मिसालें हैं। मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तान में बहुत दिनों से आदमी दुःख उठा रहे हैं, इसलिए ऐसी अजीब सजायें जब दी जाती हैं तो उन्हें अचरज नहीं होता। अपनी तो मैं कहता हूँ, चाहे जितना अभ्यास करूं तब भी उन सजाओं के पढ़ते ही मेरा दम बिना चढ़े नहीं रह सकता। नाजी जर्मनी को छोड़कर कहीं भी इस तरह की सजायें वावेला मचा देंगी।

और न्याय हिन्दुस्तान में अन्धा होकर नहीं किया जाता। खुदगरजी की आंख सदा खुली रहती है। किसानों के हरेक विद्रोह में बहुत-से किसानों को आजीवन कारावास मिलता है। ये छोटे-छोटे विद्रोह अक्सर खड़े होते हैं जब जमींदारों के गुमाश्ते आ आकर उन दुखी किसानों में आर चुभोते हैं, जिसे वे किसान बर्दाश्त नहीं कर सकते। सिर्फ उन आदमियों की शनाख्त करके जो मौके पर मौजूद थे, उम्रभर के लिए या लम्बी सजा देने के लिए जेल में डाल देने का मौका मिल जाता है। उनके भड़कने का कारण तो शायद ही कभी देखा जाता है। शनाख्त भी ठीक तरह से नहीं होती। पुलिस जिस आदमी से नाराज होती है उसी को आसानी से फांस लिया जाता है। अगर इस मामले को राजनीतिक रूप दिया जा सके या लगानबन्दी-आन्दोलन से उसे सम्बन्धित किया जा सके, तब तो जुर्म लगाना और लम्बी सजायें देना और भी आसान हो जाता है।

हाल ही के एक मामले में एक किसान ने टैक्स-कलेक्टर के चांटा मार दिया, जिसपर उसे एक साल की सजा हुई। दूसरी मिसाल इससे कुछ भिन्न है। वह पिछली जुलाई में मेरठ में हुई। एक नायब तहसीलदार एक गाँव के आदमियों से आबपाशी वसूल करने गया। उसके चपरासी एक किसान को खींचकर उसके पास लाये और शिकायत की कि उसकी स्त्री और लड़कों ने उन्हें मारा है। एक अजीब कहानी थी। खैर नायब ने हुक्म दिया कि अपनी स्त्री के कसूर के लिए उस किसान को सजा दी जाय। और तब तीनों—नायब खुद और दो चपरासी—आदमियों ने छड़ी से उस दीन को खूब मारा। इतना मारा कि उस मार से बाद में वह मर गया। नायब और चपरासियों पर मुकदमा चला और मामूली चोट पहुँचाने के लिए उन्हें कसूरवार ठहराया गया और बाद में इस बात पर उन्हें छोड़ दिया गया कि छः महीने तक वे अपना आचरण ठीक रखें। आचरण ठीक रखने से मतलब, मैं समझता हूँ, यह था कि आगे के छः महीने में वे किसी आदमी को इतना न मारें कि वह मर जाय। इन मामलों का एक दूसरे से मुकाबिला करना बड़ा शिक्षाप्रद है।

इसलिए जेलों में सुधार करने के लिए अनिवार्यतः दंड-विधि को सुधारना होगा। उससे भी ज्यादा उन जजों की मनोवृत्तियों को बदलना होगा जो कि अब भी सौ बरस पीछे के जमाने में पड़े हुए हैं और सजा और सुधार के नये विचारों से एकदम नावाकिफ हैं। इसके लिए तमाम शासन-प्रणाली को बदलना होगा।

लेकिन हम जेलों के बारे में ही विचार करें। सुधार इस विचार की बुनियाद पर होना चाहिये कि कैदी को सजा नहीं दी जा रही है, बल्कि उसे सुधारा जा रहा है और एक अच्छा नागरिक बनाया जा रहा है। (मैं राजनीतिकों के बारे में विचार नहीं कर रहा हूँ। बहुत-से उनमें इतने अपराधी होते हैं कि उनका सुधार नहीं हो सकता) अगर इस ध्येय को एक बार मान लिया गया तो जेलों की गन्दगी एकदम दूर हो जायगी। आजकल तो बहुत ही कम जेल के अफसर ऐसे विचारों के हैं। मुझे याद है, यू० पी० के जेल-मैन्युअल के एक पैराग्राफ में कहा गया है कि यह जरूरी नहीं है कि कैदी का काम उत्पादक या लाभदायक हो; वह तो सजा के लिए है। यह तो करीब-करीब इस बात का एक आदर्श कथन है कि जेल ऐसा नहीं होना चाहिये। वह पैराग्राफ तो कब का खत्म हुआ; लेकिन उसकी भावना तो अब भी बाकी है—वह भावना जो कि बड़ी कठोर और सजा देने वाली है और मानव-जाति में जिसका एकदम अभाव है। यू० पी० के जेल-मैन्युअल में जेल के जुर्मों की दी हुई सूची बड़ी मजेदार है। उनमें वे सब बातें आ जाती हैं जिन्हें आदमी की बुद्धि जिन्दगी को असह्य-से असह्य बनाने के लिए इकट्ठा कर सकती है। बात करना, गाना, चिल्लाकर हँसना, नियमित घंटों के अलावा टट्टी जाना, जो खाना दिया जाय उसे न खाना, इत्यादि सब जुर्म हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जेल के अधिकारियों की सारी ताकत कैदियों को दबाये रखने में और ऐसे बहुत-से कामों के रोकने में चली जाती है, जिन्हें करने की कैदियों को मुमानियत है।

कुछ आदमियों का खयाल है कि अगर सख्त सजा न दी जायगी तो

गुनाह बढ़ेंगे। ऐसे आदमी अज्ञानी हैं। असल में सचाई तो बिलकुल इससे उलटी है। सौ बरस पहले इंग्लैंड में मामूली चोर भी फांसी पर लटका दिये जाते थे। जब चोरों के लिए मौत की सजा हटाने का इरादा किया गया तो बड़ा शोर मचा। लार्ड-सभा में अमीरों ने कहा कि इससे तो यह नतीजा होगा कि चोर-डाकू हर चीज चुरायंगे और एक आतंक पैदा कर देगें। असल में इस सुधार का नतीजा उनके विचार से उलटा निकला और गुनाह बहुत कम होने लगे। इंग्लैंड और दूसरे मुल्कों में दण्ड-विधि और जेलों में सुधार हो जाने के कारण गुनाह धीरे-धीरे बहुत कम हो गये हैं। इंग्लैंड में बहुत-से पुराने जेलखानों की अब जरूरत नहीं है और वे दूसरे कामों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। यह सब जानते हैं कि हिन्दुस्तान के जेलों में कैदियों की तादाद बढ़ती ही जा रही है (राजनीतिक कैदियों के अलावा) और प्रबन्धक और न्याय-सम्बन्धी संस्थायें लम्बी और कठोर सजायें देकर इस बारे में और प्रोत्साहन दे रही हैं। बच्चों को सजा देना तो सब जगह बहुत बुरा समझा जाता है और उसे दरगुजर किया जाता है, लेकिन यहां हिन्दुस्तान में जेल युवकों और बच्चों से भरे हुए हैं और अक्सर उन्हें कोड़े मारने की सजा दी जाती है।

लोग डरते हैं कि अगर जेलों की हालतें सुधार दी गईं तो आदमी पर-आदमी उनमें आ भरा करेंगे। ऐसा सोचना गलती है। इससे पता चलता है कि मानवीय प्रकृति का ज्ञान उन्हें नहीं है। जेलखाने चाहे जितने अच्छे हों, कोई भी उनमें नहीं जाना चाहता। आजादी, कौटुम्बिक ज़िन्दगी, मित्र और घरेलू वायुमंडल से वंचित होना एक बड़े दुःख की बात है। सब जानते हैं कि हिन्दुस्तान का किसान अपने बाप-दादा की जमीन से चिपटकर भूखों मर जाना चाहेगा, उसे छोड़कर दूसरी जगह अपनी हालत सुधारने वह नहीं जायगा। जेल की हालतों के सुधारने का मतलब यह नहीं है कि जेल की जिन्दगी को सुगम बना दिया जाय। उसका मतलब तो यह है कि उसमें इंसानियत और समझदारी पैदा कर दी जाय।

कड़ा काम हो; लेकिन तेल की नली, पानी की नली या चक्की का वहशी और बेकार का काम न हो। जेल बड़े पैमाने के कारखानों में, जहाँ कैदी काम करते हैं, या घरेलू-धंधे करके चीजें पैदा करें। काम जेल के और कैदी के भावी जीवन के दृष्टिकोण से उपयोगी होना चाहिये। और उसके लिए बाजारू दर से कैदियों के रहन-सहन के खर्च को निकालकर जो बचे वह कैदियों को मजदूरी में मिलना चाहिए। दिन में आठ घंटे कड़ी मेहनत करने के बाद कैदियों को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे आपस में मिलें-जुलें; खेल खेलें, पढ़ें, कुछ सुनावें, व्याख्यान दें। इससे भी ज्यादा उन्हें प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि वे हँसें और जेल के अधिकारियों तथा अन्य कैदियों से मानवीय संबंध पैदा करें। हरेक कैदी की शिक्षा की तरफ ध्यान दिया जाना चाहिए, सिर्फ पढ़ना, लिखना और हिसाब (अँग्रेजी के तीन 'आर'—रीडिंग, रायटिंग, रिथमेटिक) की ही शिक्षा नहीं; बल्कि जो कुछ मुमकिन हो, वही सब शिक्षा उन्हें दी जानी चाहिए। कैदी की बुद्धि का विकास किया जाय और जेल की लाइब्रेरी में, जिसमें आने-जाने की पूरी आजादी हो, बहुत-सी अच्छी-अच्छी कितावें हों। पढ़ाई और लिखाई को हर तरह से प्रोत्सासन मिलना चाहिए। इसका मतलब यह है कि हरेक कैदी को लिखने का सामान और कितावें मिलनी चाहिएँ। कैदी के लिए इससे ज्यादा और कोई भी नुकसान की चीज नहीं है कि हर रोज बारह या चौदह घंटे एकदम कोठरी या बैरक में बन्द बितावे और करने का कुछ न हो। इतवार या छुट्टी के दिन तो उसे और भी ज्यादा वक्त तक बंद रहना पड़ता है।

कुछ चुने हुए अखबार कैदी के लिए जरूरी हैं। जिससे बाहर की दुनिया के हालात भी वह जान सके। मुलाकातें जल्दी-जल्दी होनीं चाहिए और चिट्ठियाँ भी जल्दी-जल्दी भेजी जा सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। और जहाँ तक हो सके, उन्हें बेजाब्ता कर देना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से, मेरी राय तो यह है कि हफ्तेवार मुलाकातों और चिट्ठियों की इजाजत मिल जानी चाहिए। यथासंभव कोशिश होनी चाहिए कि कैदी

महसूस करे कि वह आदमी है। और वहशियाना नीच सजायें भी बन्द हो जानी चाहिए।

हिन्दुस्तान में जेलों की मौजूदा हालतों के मुकाबिले में यह सब अजीबो-गरीब मालूम पड़ता है। और फिर मैंने तो वही बातें बताई हैं जो बहुत-से सभ्य मुल्कों की जेलों में पहले ही से की जाती हैं। वस्तुतः तो इससे भी ज्यादा ये बातें वहाँ होती हैं। हमारा मौजूदा शासन-प्रबंध और असलियत में हमारी सरकार खुद इन बातों को नहीं समझ सकती, न पसन्द ही कर सकती है, क्योंकि उन्होंने तो रोज-मर्रा के ढर्रे में अपने दिमाग को बुरी तरह बाँध रखा है; लेकिन जन-मत को ये मांगें जरूर पेश करनी चाहिए, जिससे वक्त आने पर बिना कठिनाई के उन्हें चालू किया जा सके।

यह नहीं सोचना चाहिए कि इन तब्दीलियों से अतिरिक्त खर्च बढ़ जायगा। अगर जेलों को ठीक-ठीक मौजूदा औद्योगिक लाइनों पर चलाया जाय तो वे स्वावलम्बी ही नहीं होंगी; बल्कि ऊपर बताई अतिरिक्त खुश-गवारी के अतिरिक्त खर्च को निकालकर उनसे आमदनी भी हो सकती है। इन तब्दीलियों को करने में कोई भी मुश्किल नहीं है। एक मुश्किल हो सकती है, वह यह कि जेल के अधिकारी होशियार हों और उनमें इंसा-नियत हो और वे नये दृष्टिकोण को पूरी तरह से समझ सकें, उसे पसन्द कर सकें और उसके लिए कोशिश करने की इच्छा उनमें हो। यह बेहद जरूरी है।

मेरी इच्छा है कि हमारे कुछ आदमी विदेशी जेलखानों की हालत का अध्ययन करें और जहाँ मुमकिन हो वहाँ खुद जाकर उनका निरीक्षण करें। वे देखेंगे कि हमारे जेलखाने उनसे कितने पीछे हैं। हर जगह एक नई इंसानियत पाई जाती है, साथ ही लोग यह भी जानने लगे हैं कि सामाजिक हालतें ही ज्यादातर आदमी को कसूरवार बनाती हैं। इसलिए कैदी को सजा देने के बजाय एक बीमारी की तरह उसका इलाज होना चाहिए। सच्चे अपराधियों का मन बच्चों का-सा होता है और यह मूर्खता

की बात है कि बड़ा समझकर उसके साथ बर्ताव किया जाय।

लेटविया जैसे छोटे मुल्क की जेलों में हम सुनते हैं कि "पौधों, फूलों, किताबों और कैदियों की निजी चीजों को, जैसे फोटोग्राफ, दस्तकारी, बेतार-के-तार, लगाकर कोशिश की जाती है कि कैदियों के कमरों और कोठरियों में घरेलू वातावरण पैदा हो।" वहाँ कैदियों को अपने काम के लिए मजदूरी मिलती है। उनकी आधी आमदनी जमा होती रहती है और आधी वे अतिरिक्त भोजन, तम्बाकू, अखबार वगैरा में खर्च कर देते हैं।

सोवियटों का देश, रूस तो जेल की हालत सुधारने में सबसे आगे बढ़ गया है। हाल ही में एक होशियार निरीक्षक ने सोवियट-जेलों की जाँच की थी। उनकी रिपोर्ट बड़ी दिलचस्प है। यह निरीक्षक डी० एन० प्रिट, के० सी०, एक मशहूर अंग्रेज वकील थे। यह दण्ड-सुधार के लिए हावर्ड-लीग के अध्यक्ष भी हैं। यह लीग एक सङ्गठन है जो साठ बरस से ज्यादा से इंग्लैंड में जेल-सुधार में सबसे आगे है। प्रिट बताते हैं कि वहां सजा में से सजा का अंश तो एकदम हटा दिया गया है। अब सजा बिलकुल सुधार के लिए दी जाती है। कैदियों के साथ बर्ताव इंसानियत का होता है और बेहद अच्छा होता है।

वहां दो तरह के जेलखाने हैं:—(१) अधखुले खीमे या पूरे खुले कम्यून या कालोनी। असल में वे जेल बिलकुल नहीं हैं। वहां कैदी गांव की जिन्दगी बसर करते हैं। कुछ पाबन्दियां उन पर होती हैं। (२) बन्द जेल। ये जेल सबसे सख्त तरह के जेल होते हैं; लेकिन यहां भी कैदियों को बहुत ज्यादा आज़ादी दी जाती है। देखकर ताज्जुब होता है। वार्डर और कैदियों में बराबरी की भावना होती है और काम के घंटों के अलावा दूसरे कैदियों से और गार्डों से मिलने-जुलने में कोई रुकावट नहीं होती। मामूली कारखानों के आठ घंटे का काम वहां होता है जिसके लिए मामूली मजदूरी मिलती है। बाकी घंटों के लिए खेल है, पढ़ाई है, जमनास्टिक, लेक्चर, बेतार के तार, किताबें हैं। शौक के लिए कैदी ड्रामा भी खेलते हैं। कैदी इधर-उधर की बातें भी करते हैं और वार्डरों और जेल

के दूसरे अफसरों पर जो "यह भूल जाते हैं कि जेल सजा के लिए नहीं हैं, बल्कि सुधार के लिए हैं," बिना हिचकिचाये टीका-टिप्पणी करते हैं।

रूस की सब संस्थाओं में जिस स्वराज्य के सिद्धांत को प्रोत्साहन दिया जाता है, सबको कुछ हदतक जेलों में ही व्यवहार में लाया जाता है। कैदी खुद अपने ऊपर सजायें लगाते हैं। काम के वक्त छोड़कर, सिगरेट पीने की उन्हें आजादी है। मुलाकातें जल्दी-जल्दी होती हैं और बेरोक और बिना निगरानी के चिट्ठियां आती-जाती हैं। सबसे मार्के का नियम तो यह है कि वहां करीब-करीब हमेशा कैदी को पन्द्रह दिन की गर्मियों की छुट्टी मिलती है, जिससे वह घर जाकर अपनी पैदावार वगैरा की देख-भाल कर आवे। जेल में वह औरत जिसके पास बच्चा है, या तो उस बच्चे को जेल की क्रेश[1] में छोड़ सकती है जहां अच्छी तरह से बच्चों की देख-भाल होती है या वह उसे घर पर छोड़ सकती है। घर पर छोड़ने की हालत में दूध पिलाने के लिए वह दिन में कई बार घर जा सकती है।

कोठरियों में फूल, तस्वीरें, फोटोग्राफ रहते हैं। दिमाग का इलाज करने वाले डाक्टर नियम से कैदियों की जांच करके देखते हैं कि उनकी दिमागी हालत ठीक है या नहीं। दिमाग के इलाज के लिए अस्पताल हैं जहां जरूरत पड़ने पर उन्हें भेज दिया जाता है। कालकोठरी की सजा तो बहुत कम दी जाती है।

इन सब बातों पर यकीन नहीं होता; लेकिन रूस में ऐसा है और इस इंसानियत के वर्ताव का इतना अच्छा नतीजा निकला है कि ताज्जुब होता है। रूस वालों को उम्मीद है कि कसूर बहुत-कुछ कम हो जायंगे और बहुत-सी जेल बन्द कर दी जायंगी। इसलिए अच्छे वर्ताव से जेल भरती नहीं हैं, खाली होती हैं, बशर्ते कि आर्थिक बुनियाद ठीक हो और करने के लिए काम हो।

थोड़ा वक्त गुजरा, कामन्स सभा में जानवरों की रक्षा करने पर विचार करने के लिए एक सभा हुई थी। बड़ा प्रशंसनीय विचार

१. बच्चों के लिए आम नर्सरी—सम्पादक

था; लेकिन यह याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में बेचारा दो पैर का जानवर भी रक्षा और चिन्ता के लायक है। खासतौर से वे जो जेल में बहुत दिनों तक शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाते हैं और जेल से निकलने पर मामूली काम भी मुश्किल से कर पाते हैं।

नार्वे की हरेक जेल में दीवारों पर एक बात खुदी हुई है। वह नार्वे के एक मशहूर कैदी लार्स ऑलसन स्क्रैफसरड के, जिसने नशे की हालत में चोरी करने पर बड़ी लम्बी सजा भुगती, व्याख्यान का एक अवतरण है। वह बाद में हिन्दुस्तान आया और उसने स्कैंडीनेवियन सेंटल मिशन[1] की नींव डाली। वह एक बहुभाषी व्यक्ति था, प्राचीन और आधुनिक सत्रह भाषायें जानता था। उनमें एक सेंटल भाषा भी थी। उसके व्याख्यान का अवतरण, जो जेल की कोठरियों पर खुदा हुआ है, इस तरह है:—

"उस आदमी के अलावा जिसने कभी खुद यह महसूस नहीं किया कि कैदी होना कैसा होता है, कोई भी अंदाज नहीं कर सकता कि जेल में कैदी पर क्या बीतती है। उसकी कुछ कल्पना की जा सकती है; लेकिन उससे उस आदमी की भावनायें जाहिर नहीं हो सकतीं जो दुखी और परित्यक्त अपनी कोठरी में पड़ा रहता है।"

यह अच्छी बात है कि वे आदमी, जिन्हें उनके भाग्य ने जेल की कोठरी से दूर ही रखा है, इन दुखी और परित्यक्त लोगों की ओर ध्यान देने लगे हैं।

१९३४।

---

१. सेंटल आर्यों से पहले की एक जाति है, जो बंगाल और उसके आसपास के जिलों में रहती है।

: २८ :

साहित्य का भविष्य

कुछ दिन से फिर हिन्दी और उर्दू की बहस उठी है, और लोगों के दिलों में यह शक पैदा होता है कि हिन्दीवाले उर्दू को दबा रहे हैं और उर्दूवाले हिन्दी को। बगैर इस प्रश्न पर गौर किये जोशीले लेख लिखे जाते हैं और यह समझा जाता है कि जितना हम दूसरे पर हमला करते हैं उतना ही हम अपनी प्रिय भाषा को लाभ पहुँचाते हैं; लेकिन अगर जरा भी विचार किया जाय तो यह बिलकुल फिजूल मालूम होता है। साहित्य ऐसे नहीं बढ़ा करते।

दूसरी बात यह भी देखने में आती है कि अक्सर साहित्य का अर्थ हम कुछ दूसरा ही लगाते हैं। हम भाषा की छोटी बातों में बहुत फँसे रहते हैं और बुनियादी बातों को भूल जाते हैं। साहित्य किसके लिए होता है? क्या वह थोड़े-से ऊपर के पढ़े-लिखे आदमियों के लिए होता है या आम जनता के लिए? जब तक हम इसका जवाब न दें, उस समय तक हमें साहित्य के भविष्य का रास्ता ठीक तौर से नहीं दीखता। और अगर हम इस बात का निश्चय कर लें, तब शायद हमारे हिन्दू-उर्दू आदि के और झगड़े भी हल हो जायं।

पहली बात जो हमको याद रखनी है वह यह है कि हमारा आजकल का साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोप की किसी भी भाषा से मुकाबिला किया जाय तो हम काफी गिरे हुए हैं। जो नई किताबें हमारे यहां निकल रही हैं वे अव्वल दर्जे की नहीं होतीं, और कोई आदमी आजकल की दुनिया को समझना चाहे तो उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह विदेशी भाषाओं की किताबें पढ़े। नई विचार-धारायें अभी तक हमारे साहित्य में कम पहुँची हैं। इतिहास, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति इत्यादि

पर हमारी भाषाओं में माकूल पुस्तकें बहुत कम हैं। हमें इधर पूरे तौर से ध्यान देना है, नहीं तो हमारी भाषाएं बढ़ नहीं सकतीं। जो लोग इन बातों के सीखने के प्यासे हैं उनको मजबूरन और जगह जाना पड़ेगा।

बहुत सारे प्रश्न उठते हैं। इन सब पर मैं इस समय नहीं लिख सकता; लेकिन चन्द बातों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूँ:—

१. मेरा पूरा विश्वास है कि हिन्दी और उर्दू के मुकाबिले से दोनों को हानि पहुंचती है। वे एक-दूसरे के सहयोग से ही बढ़ सकती हैं। और एक के बढ़ने से दूसरे को भी फायदा पहुँचेगा। इसलिए उनका सम्बन्ध मुकाबिले का नहीं होना चाहिए, चाहे वह कभी अलग-अलग रास्ते पर क्यों न चलें। दूसरे की तरक्की से खुशी होनी चाहिए; क्योंकि उसका नतीजा अपनी तरक्की होगा। यूरोप में जब नये साहित्य (अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन) बढ़े, तब सब साथ बढ़े, एक-दूसरे को दबाकर और मुकाबिला करके नहीं।

२. इसके माने यह नहीं कि हर भाषा के प्रेमी अपनी भाषा की अलग उन्नति की कोशिश न करें। वे अवश्य करें लेकिन वह दूसरे की विरोधी कोशिश न हो और मूल सिद्धान्त सामने रखें।

३. यह खाली उर्दू-हिन्दी के लिए नहीं, बल्कि हमारी सब बड़ी भाषाओं के लिए, बंगाली, मराठी, गुजराती, तामिल तेलगू, कन्नड, मलयालम के लिए है। यह बात साफ कर देनी चाहिए कि हम इन सब भाषाओं की तरक्की चाहते हैं, और कोई मुकाबिला नहीं। हर प्रांत में वहां की भाषा ही प्रथम है। हिन्दी या हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा अवश्य है और होनी चाहिए; लेकिन वह प्रांतीय भाषा के पीछे ही आ सकती है। अगर यह बात निश्चय हो जावे और साफ-साफ कह दी जावे तो बहुत गलतफहमियां दूर हो जावें और भाषाओं का सम्बन्ध बढ़े।

४. हिन्दी और उर्दू का सम्बन्ध बहुत करीब का है, और फिर भी कुछ दूर होता जा रहा है। इससे दोनों को हानि होती है। एक शरीर पर दो सिर हैं और वे आपस में लड़ा करते हैं। हमें दो बातें समझनी हैं

और हालांकि ये दो बातें ऊपरी तौर से कुछ विरोधी मामूम होती हैं, फिर भी उनमें कोई असली विरोध नहीं है। एक तो यह कि हम ऐसी भाषा हिन्दी और उर्दू में लिखें और बोलें जो कि बीच की हो और जिस में संस्कृत या अरबी और फारसी के कठिन शब्द कम हों। इसी को आम तौर से हिन्दुस्तानी कहते हैं। कहा जाता है, और यह बात सही है कि ऐसी बीच की भाषा लिखने से दोनों तरफ की खराबियां आ जाती हैं, एक दोगली भाषा पैदा होती है, जो किसी को पसन्द नहीं होती और जिसमें न सौंदर्य होता है, न शक्ति। यह बात सही होते हुए भी बहुत बुनियाद नहीं रखती और मेरा विचार है कि हिन्दी और उर्दू के मेल से हम एक बहुत खूबसूरत और बलवान भाषा पैदा करेंगे, जिसमें जवानी की ताकत हो और जो दुनिया की भाषाओं में एक माकूल भाषा हो।

यह बात होते हुए भी हमें याद रखना है कि भाषायें जबरदस्ती नहीं बनती या बढ़तीं। साहित्य फूल की तरह खिलता है और उस पर दबाव डालने से मुरझा जाता है। इसलिए अगर हिन्दी-उर्दू भी अभी कुछ दिन तक अलग-अलग झुकें, तो हमको उस पर ऐतराज नहीं करना चाहिए। वह कोई शिकायत की बात नहीं। हमें दोनों को समझने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि जितने अधिक शब्द हमारी भाषा में हों उतना ही अच्छा।

५. लिपि के बारे में यह बिलकुल निश्चय हो जाना चाहिए कि दोनों लिपियां—देवनागरी और उर्दू...जारी रहें और हरेक को अधिकार हो कि जिसमें चाहे, वह लिखे। अक्सर इस बात की चर्चा होती है कि एक प्रांत में हिन्दी लिपि को दबाते हैं, जैसे सरहदी प्रांत; दूसरे प्रान्त में उर्दू लिपि को मौका नहीं मिलता। हमें एक तरफ की बात खाली नहीं कहनी है, बल्कि सिद्धांत रखना है कि हर जगह दोनों लिपियों को पूरी आजादी होनी चाहिए। हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रेमियों को मिलकर यह बात माननी चाहिए और इसका यत्न करना चाहिए।

६. यह प्रश्न असल में हिन्दी और उर्दू से भी दूर जाता है। मेरी

राय में हर भाषा व हर लिपि को पूरी आजादी होनी चाहिए, अगर उसके बोलने और लिखने वाले काफी हों। मसलन, अगर कलकत्ते में काफी तामिल बोलनेवाले रहते हैं तो उनको अधिकार होना चाहिए कि उनके स्कूलों में तामिल द्वारा पढ़ाई हो। जाहिर है कि एक प्रान्त के राजनीतिक कार्य का अन्य काम बहुत सारी भाषाओं में नहीं हो सकता। वह तो प्रान्त की ही भाषा में हो सकता है। उत्तरभारत और मध्यभारत में जहां हिन्दुस्तानी भाषा जनता की है, वहां एक भाषा और दो लिपियां सब जगह आजादी से चलनी चाहिएँ। इसके माने यह नहीं हैं कि हरेक को दो लिपियां सीखनी पड़ेंगी। यह बच्चों पर बहुत बोझा हो जावेगा और इसलिए वे या उनके मां-बाप कह सकें कि वह किस लिपि में सीखें। कोशिश यह भी होनी चाहिए कि कुछ लोग दोनों लिपियां सीखें।

७. हिन्दी और हिन्दुस्तानी शब्दों पर बहुत बहस हुई है और गलतफहमियां फैली हैं। यह एक फिजूल की बहस है। दोनों ही शब्द हम अपनी राष्ट्रभाषा के लिए कह सकते हैं। दोनों सुन्दर हैं और हमारे देश और जाति से सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन अच्छा हो, अगर इस बहस को बन्द करने के लिए हम बोलने की भाषा को हिन्दुस्तानी कहें और लिपि को हिन्दी या उर्दू कहें। इससे साफ-साफ मालूम हो जायगा कि हम क्या कह रहे हैं।

८. यह हिन्दुस्तानी भाषा क्या हो? देहली या लखनऊ के रहनेवाले कहते हैं कि हमारी बोली आमफहम है। इसको हिन्दुस्तानी बनाओ; लेकिन बनारस, पटना और मध्यभारत राजपूताना में जाइए तो काफी फर्क मिलता है। और अगर शहरों को छोड़कर देहातों में हम जावें तो और भी फर्क। फिर कौन भाषा हमारी हो?

हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जो सभ्य हो और जिसे अधिक-से अधिक जनता समझे। इसको हम बैठकर कुछ कोषों का मुकाबिला करके नहीं बना सकते, और न दो-चार साहित्यकार (उर्दू और हिन्दी के) मिलकर इसको पैदा कर सकते हैं। इसकी बुनियाद तभी मजबूत पड़ेगी

जब लिखनेवाले आम जनता के लिए लिखेंगे और बोलने वाले उनके ही लिए बोलेंगे। तब यह दफ्तरी बहसें कि कितनी उर्दू और कितनी हिन्दी, यह सब खत्म हो जावेगी। जनता फैसला करेगी। जो उसकी समझ में आवेगा वह रहेगी, जो नहीं समझेगी वह हलके-हलके दब जावेगी।

इसलिए हमारे लिए सबसे बुनियादी प्रश्न यही है कि हम आम जनता के लिए अपना साहित्य बनावें और उनको हमेशा अपने दिमागों के सामने रखकर लिखें। हर लिखने वाले को अपने से पूछना है, "मैं किसके लिए लिखता हूँ?"

९. एक और बात। यह आवश्यक है कि हिन्दी में यूरोप की भाषाओं से प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद हो। इसी तरह से हम दुनिया के विचार यहाँ लायँगे और उसके साहित्य से लाभ उठावेंगे।

२५ जुलाई, १९३७।

: २६ :

हिन्दी और उर्दू का मेल

हमें हिन्दुस्तानी को उत्तरी और मध्य भारत की राष्ट्रीय भाषा समझ कर विचार करना चाहिए। दोनों रूप सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए इनपर अलाहदा-अलाहदा विचार होना चाहिये।

हिन्दुस्तानी के हिन्दी और उर्दू दो खास स्वरूप हैं। यह साफ है कि दोनों का आधार एक है, व्याकरण भी एक है और दोनों का कोष भी एक ही है। वास्तव में दोनों का उद्‌गम एक ही है। इतना होनेपर भी इस समय जो दोनों में भेद होगया है, वह भी विचारणीय है। कहा जाता है कि कुछ हद तक हिन्दी का आधार संस्कृत और उर्दू का फारसी है। इन दोनों भाषाओं पर इस दृष्टिकोण से विचार करना कि हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है, युक्तिसंगत नहीं है। उर्दू की लिपि को छोड़कर यदि हम केवल भाषा पर ही विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि उर्दू हिन्दुस्तान के बाहर कहीं भी नहीं बोली जाती है। हाँ, उत्तरी भारत के बहुत से हिन्दुओं के घरों में वह बोली जाती है।

मुसलमानों के शासनकाल में फारसी राजदरबार की भाषा रही है। मुगल शासन के अन्ततक फारसी का इसी रूप में प्रयोग होता रहा तथा उत्तरी और मध्य भारत में हिन्दी बोली जाती रही। एक जीवित भाषा के नाते फारसी के बहुत से शब्द इसमें प्रचलित हो गये। इसी तरह गुजराती और मराठी में भी ऐसा ही हुआ। यह जरूर हुआ कि हिन्दी हिन्दी ही रही। राजदरबार में रहनेवाले व्यक्तियों में हिन्दी प्रचलित रही; किन्तु उसमें इतना परिवर्तन होगया कि वह लगभग फारसी-जैसी होगई। यह भाषा 'रेखता' कहलाती थी। शायद मुगलों के शासन-काल में मुगल-कैम्पों से 'उर्दू' शब्द प्रचलित हुआ। यह शब्द हिन्दी का पर्यायवाची

समझा जाता था। उर्दू शब्द से वही अर्थ समझा जाता था जो हिन्दी से। १८५७ के विद्रोह तक हिन्दी और उर्दू में लिपि को छोड़कर कोई और भेद नहीं था। यह तो सभी जानते हैं कि कई हिन्दी के प्रमुख कवि मुसलमान थे। गदर तक ही नहीं; बल्कि उसके बाद भी कुछ दिनों तक प्रचलित भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह लिपि के लिए प्रयोग नहीं किया जाता था, बल्कि भाषा के लिये। जिन मुसलमान कवियों ने, अपने काव्य उर्दू-लिपि में लिखे, वे भी भाषा को हिन्दी ही कहा करते थे।

१९ वीं सदी के आरम्भ के लगभग 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों के प्रयोग में कुछ फर्क होने लगा। यह फर्क धीरे-धीरे बढ़ता गया। शायद यह फर्क उस राष्ट्रीय जागृति का प्रतिबिम्ब था, जो कि हिन्दुओं में हो रही थी। उन्होंने परिष्कृत हिन्दी और देवनागरी की लिपि पर जोर दिया। आरंभ में उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप एक प्रकार से हिन्दू राष्ट्रीयता ही था। आरम्भ में ऐसा होना अनिवार्य भी था। इसके कुछ दिनों बाद मुसलमानों में भी धीरे-धीरे जागृति पैदा हुई। उनका राष्ट्रीयता का स्वरूप भी मुस्लिम राष्ट्रीयता ही था।

इस तरह से उन्होंने उर्दू को अपनी भाषा समझना शुरू कर दिया। लिपियों के बारे में वाद-विवाद होने लगा और यह भी मतभेद का एक विषय बन गया, कि अदालतों और सरकारी दफ्तरो में किस लिपि का प्रयोग किया जाय। राजनीतिक और राष्ट्रीय जागृति का ही यह परिणाम हुआ कि भाषा की लिपि के विषय में मतभेद हुआ। अरम्भ में इसने साम्प्रदायिकता का स्वरूप लिया। जैसे-जैसे यह राष्ट्रीयता वास्तविक राष्ट्रीयता का स्वरूप लेती गई, अर्थात् हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र समझा जाने लगा और साम्प्रदायिकता की भावना दबने लगी, वैसे ही भाषा के सम्बन्ध में इस मत-भेद को समाप्त करने की इच्छा बढ़ती गई। बुद्धिमान् व्यक्तियों ने उन अनगिनत बातों पर प्रकाश डालना शुरू कर दिया, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ही दिखाई देती थीं। इस बात की चर्चा होने

लगी कि हिन्दुस्तानी उत्तरी और मध्य भारत की ही नहीं, बल्कि समस्त देश की राष्ट्रभाषा है। खेद की बात है कि भारत में अभी तक साम्प्रदायिकता का जोर है, अतः वह मत-भेद भी एकता की मनोवृत्ति के साथ-साथ अभी तक मौजूद है! यह निश्चय है कि जब राष्ट्रीयता का पूरा विकास हो जायगा तो यह मत-भेद स्वयं ही खत्म हो जायगा। हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि तभी हम समझ सकेंगे कि इस बुराई की जड़ क्या है। आप किसी भी ऐसे व्यक्ति को ले लीजिए जो इस मत-भेद से सम्बन्ध रखता हो। उसके बारे में खोज कीजिये तो आपको पता चलेगा कि वह सम्प्रदायवादी और सम्भवतः राजनीतिक प्रतिक्रियावादी है। यद्यपि मुगलों के शासन-काल में हिन्दी और उर्दू दोनों शब्दों का ही प्रयोग होता था; किन्तु उर्दू शब्द खास तौर से उस भाषा का द्योतक था जो मुगलों की फौजों में बोली जाती थी। राज-दरबार और छावनियों के समीप रहनेवालों में कुछ फारसी के शब्द भी प्रचलित थे और वही शब्द बाद में भाषा में भी प्रचलित हो गये। मुगलों के केन्द्र से दक्षिण की ओर चलते जाइए तो मालूम होगा कि उर्दू शुद्ध हिन्दी में मिल गई। देहातों की बनिस्बत नगरों पर ही अदालतों का यह असर पड़ा और नगरों में भी मध्यभारत के नगरों की बनिस्बत उत्तरी भारत में और भी ज्यादा असर पड़ा।

इससे हमें पता चलता है कि आज की उर्दू और हिन्दी में क्या भेद है। उर्दू नगरों की और हिन्दी ग्रामों की भाषा है। हिन्दी नगरों में भी बोली जाती है; किन्तु उर्दू तो पूरी तरह से शहरी भाषा ही है।

उर्दू और हिन्दी को निकट लाने की समस्या का स्वरूप बहुत बड़ा है; क्योंकि इन दोनों को समीप लाने का अर्थ शहरों और गांवों को समीप लाना है। किसी और मार्ग का अवलम्बन करना व्यर्थ होगा और उसका असर भी स्थिर न होगा। यदि कोई भाषा बदल जाती है तो उसके बोलनेवाले भी बदल जाते हैं। उस हिन्दी और उर्दू में अधिक भेद नहीं है जो कि आमतौर पर घरों में बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टि से

जो भेद पैदा हो गया है वह भी पिछले चन्द वर्षों में ही हुआ है। साहित्य का भेद बड़ा भयंकर है। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ खास व्यक्ति ही इसके लिए जिम्मेदार हैं। इस प्रकार की कल्पना करना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो इस भेद को बढ़ते देखकर प्रसन्न होते हैं; किन्तु जीवित भाषाओं की प्रगति इस ढंग से नहीं होती। कुछ व्यक्ति उन्हें अपने ढंग पर लाना भी चाहें तो नहीं ला सकते। इसके लिए हमें गम्भीरता से विचार करना होगा। यद्यपि इस भेद का होना बड़ी बदकिस्मती की बात है; किन्तु फिर भी यह इस बात का द्योतक है कि भविष्य अच्छा ही है। हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में कुछ दिनों की स्थिरता के बाद फिर कुछ गति आने लगी है और दोनों ही अपना मार्ग ढूँढ रही हैं। वे नवीन विचारों को प्रकट करने के लिए संघर्ष कर रही हैं, और पुराने मार्गों को छोड़कर एक नया स्वरूप धारण करती जा रही हैं। जहां तक नये विचारों का सम्बन्ध है, वहां दोनों का ही शब्द-कोष दरिद्र है; किन्तु दोनों ही अन्य भाषाओं से इस अभाव की पूर्ति कर सकती हैं। हिन्दी संस्कृत से और उर्दू फारसी से इस अभाव को पूरा कर रही है। इस प्रकार जैसे-जैसे हम घरेलू भाषा को छोड़कर अन्य भाषाओं का सहारा लेते हैं, वैसे-वैसे यह भेद बढ़ता जाता है। साहित्यिक संस्थायें अपनी-अपनी भाषा को परिष्कृत रखने के लिए उत्सुक रहती हैं। यह मनोवृत्ति बढ़ते-बढ़ते एक सीमा पर पहुँच जाती है और तब वह आपस में एक-दूसरे को इस भेद के लिए जिम्मेदार ठहराती हैं। अपनी आँख का तो ताड़ भी दिखाई नहीं देता और दूसरे की आँख का तिल भी दिखाई दे जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई बढ़ी है और कभी कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि दोनों का विकास अलग-अलग भाषाओं के रूप में होना निश्चित है। यह आशंका अनुचित और निर्मूल है।

हिन्दी और उर्दू की इस नई धारा का, चाहे इससे कुछ दिनों के लिए दोनों के बीच की खाई बढ़ ही क्यों न जाय, स्वागत करना चाहिए।

मौजूदा हिन्दी और उर्दू राजनीतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। दोनों ही इस कमी को पूरा करने के लिए अपना कोष बढ़ा रही हैं और इसमें उन्हें सफलता भी मिल रही है। एक-दूसरे को आपस में सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि हम सभी चाहते हैं कि हमारी भाषा का कोष भरपूर हो। यदि हम हिन्दी या उर्दू में से किसी भी एक के शब्दों को नष्ट करने का यत्न करेंगे तो हम कभी भी अपनी भाषा का कोष न बढ़ा पायेंगे। हम दोनों ही भाषाओं को चाहते हैं, हमें दोनों को स्वीकार करना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि यदि हिन्दी का विकास होता है तो उर्दू का भी होता है और यदि उर्दू का होता है तो हिन्दी का भी। दोनों का ही एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ेगा और दोनों का ही कोष बढ़ेगा। दोनों को नये-नये शब्दों और विचारधाराओं का स्वागत करने को तैयार रहना चाहिए। मेरी वास्तविक इच्छा यह है कि हिन्दी और उर्दू अपने में विदेशी भाषाओं के शब्दों और विचारों को शामिल कर लें और उन्हें अपना बना लें। ऐसे शब्दों के लिए जो आमतौर पर अंग्रेजी, फ्रेंच और अन्य विदेशी भाषाओं में बोले जाने लगे हैं संस्कृत या फारसी के शब्द गढ़ना ठीक नहीं है।

मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि हिन्दी और उर्दू अवश्य ही एक-दूसरे के निकट आयेंगी। यह हो सकता है कि उनका स्वरूप भिन्न हो; किन्तु भाषा एक ही होगी। इसके लिए जो वातावरण पैदा हो रहा है, वह बहुत शक्तिशाली है। यदि कुछ लोग उसका विरोध भी करेंगे तो वे सफल नहीं हो सकते। राष्ट्रीयता का जोर बढ़ता जा रहा है और साथ-ही-साथ यह भावना भी जोर पकड़ती जा रही है कि भारत में एकता का होना जरूरी है। अन्त में इसी भावना की विजय होनी निश्चित है। इसके अलावा एक बात और है। वह यह कि यातायात के साधनों, विचारों और राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। इनका असर पड़ना भी लाजिमी है। हमारे लिए अपने तंग दायरे में ऐसे समय सीमित रहना जबकि संसार क्रांतिकारी हालत में है, मुमकिन नहीं। जन-साधारण में शिक्षा

का प्रसार होने से भाषा में एकता और प्रामाणिकता आजायगी। एक परिणाम यह भी होगा कि उसका एक माप या मान भी कायम हो जायगा।

इसलिए हमें हिन्दी और उर्दू के विकास को आशंका की निगाह से नहीं देखना चाहिए। हिन्दी-प्रेमियों को उर्दू का विकास और उर्दू-प्रेमियों को हिन्दी का विकास देखकर प्रसन्न होना चाहिए। आज दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं; किन्तु अन्त में दोनों को मिल ही जाना है। यद्यपि हम इस अलगाव को सहन कर लेते हैं; किन्तु हमें दोनों की एकता के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस एकता का आधार क्या होगा ? एकता का आधार जन-साधारण होंगे। हिन्दी और उर्दू ही जन-साधारण के लिए होगी। हमारे सामने जो कठिनाइयाँ आती हैं उनका एक कारण यह भी है कि हम भाषा की बनावट के फेर में पड़ जाते हैं और इस प्रयत्न में हम जन-साधारण से सम्पर्क खो बैठते हैं। लेखक जो कुछ लिखते हैं वह किसके लिए ? हरेक लेखक के ध्यान में, जान में या अनजान में, यह बात अवश्य रहती है कि वह जो कुछ लिख रहा है, वह किसके लिए लिख रहा है ? वह अपने दृष्टिकोण को किसके सामने रखना चाहता है ? शिक्षा की कमी के कारण पाठकों की संख्या बहुत ही परिमित होती है; किन्तु यह परिमित संख्या भी काफी होती है और धीरे-धीरे इस संख्या में वृद्धि ही होगी। यद्यपि मैं इस विषय में कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि लेखक इस परिमित संख्या से भी काफी लाभ नहीं उठाता है। उसे तो उस साहित्यिक समाज का ही ध्यान रहता है, जिसमें वह सदा विचरण करता रहता है और जो उसकी कृतियों की प्रशंसा करता है। वह उन्हीं की भाषा में लिखता है। उसके विचार जनता तक नहीं पहुँच पाते। यदि जनता तक पहुँचे भी तो वह उसे समझ नहीं पाती। इन कारणों के होते हुए यदि हिन्दी और उर्दू की पुस्तकों की खपत कम है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे समाचार-पत्रों की वृद्धि न होने का भी यह एक कारण है। उनमें भी उसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग होता है।

हमारे लेखकों को चाहिए कि वे जन-साधारण को ही अपना पाठक समझें और जो कुछ भी लिखें वह उनके लिए ही लिखें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि भाषा सरल होजायगी। जब किसी भी भाषा में बनावट आने लगती है तो उसके नाश के दिन निकट आजाते हैं। भाषा के सरल होने के साथ-साथ यह बनावट भी दूर हो जायगी, और ऐसे शब्द प्रयोग में आने लगेंगे जिनमें ओज और शक्ति भी अधिक होगी। अभी तक हममें से यह भावना दूर नहीं हुई कि साहित्य और संस्कृति उच्च वर्गों की देन है। यदि हम इसी दृष्टिकोण से सोचते रहेंगे तो हम एक तंग दायरे के अन्दर ही रह जायंगे और जन-साधारण से जरा-सा भी सम्पर्क कायम न कर सकेंगे। संस्कृति का आधार अधिक विशाल होना चाहिए अर्थात् वह जन-साधारण पर अवलम्बित होनी चाहिए। भाषा संस्कृति का एक अंग है, अतः उसका आधार भी वही होना चाहिए जो संस्कृति का है।

जन-साधारण के निकट पहुँचने का सवाल सरल शब्दों या मुहावरों के उन भावों से है जिन्हें यह व्यक्त करते हैं। भाषा के द्वारा ही जन-साधारण से अपील की जाती है, इसलिए भाषा ऐसी होनी चाहिए जो उनके लिए उपयुक्त हो और उनके कष्टों, आशाओं और सुखों को पूरी तरह जाहिर कर सके। भाषा को एक छोटे-से वर्ग के जीवन का दर्पण न होकर जन-साधारण के जीवन का द्योतक होना चाहिए। इतना होने पर ही भाषा की जड़ें ज्यादा मजबूत हो सकती हैं और तभी उसे जन-साधारण का सहारा मिल सकता है।

यह बात केवल हिन्दी और उर्दू से नहीं बल्कि भारत की समस्त भाषाओं से सम्बन्ध रखती है। मैं जानता हूँ कि उन सबमें इन्हीं विचारों का जोर हो रहा है और जन-साधारण की अधिक से अधिक चिन्ता की जा रही है। इस मार्ग की गति और भी तेज होनी चहिए। लेखकों का भी यही लक्ष्य होना चाहिए कि वे इसे प्रोत्साहन दें।

मेरे विचार में इस बात की भी बड़ी जरूरत है कि हमारी भाषाओं

का विदेशी भाषाओं से सम्पर्क स्थापित हो। प्राचीन और मौजूदा पुस्तकों का अनुवाद किया जाय। ऐसा करने से हमें दूसरे देशों की संस्कृति और साहित्य का ज्ञान होजायगा और हम उनके सामाजिक आन्दोलनों से भी परिचित हो जायंगे। नये विचारों से हमारी भाषा को भी ताकत मिलेगी!

जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ाने में बंगला सबसे आगे है। बंगला का साहित्य बंगाल की जनता के जीवन से दूर नहीं है। जन-साधारण और उच्च वर्ग के भेद को विश्व-कवि टैगोर ने काफी दूर कर दिया है। आज रवि बाबू की कविताएँ ग्रामों के झोपड़ों में भी सुनाई देती हैं। इससे बंगला के साहित्य में ही वृद्धि नहीं हुई, बल्कि बंगाल की जनता को भी प्रोत्साहन मिला है। बंगला बहुत शक्तिशाली भाषा बन गई है और उसमें सरल शब्दों के द्वारा बड़े-बड़े साहित्यिक मुहावरों को व्यक्त किया जा सकता है। इससे हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और अपनी भाषा को भी यही रूप दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में गुजराती का भी जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है। मैंने सुना है कि गांधीजी की सरल भाषा का गुजराती पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

२५ जुलाई १९३७।

: ३० :

साहित्य की बुनियाद

हम लोग जो राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हैं, वे देश के और जरूरी पहलू अक्सर भूल जाते हैं। किसी देश की असल जागृति उसके नये साहित्य से मालूम होती है। क्योंकि उसमें जनता के नये-नये विचार और उमंगें निकलती हैं। जो जाति खाली पुराने साहित्य पर रहती है चाहे वह कितनी ही ऊँची क्यों न हो, वह पूरी तौर से जीवित नहीं है और आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए अगर हिन्दुस्तान की आजकल की हालत का अन्दाजा किया जाय तो हमें उसके नये साहित्य को, जो इस देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में है, देखना चाहिये। इससे मालूम होता है कि एक नई जागृति जरूर हमारी सभी भाषाओं—हिन्दी, उर्दू, बंगला गुजराती, मराठी इत्यादि में है। लेकिन फिर भी आजकल के क्रान्तिकारी समय में यह कुछ कम मालूम होती है। अभी तक हमने कोई बहुत अच्छे राष्ट्रीय गाने भी नहीं पैदा किये जो कि ऐसे समय में अक्सर पैदा होते हैं। चीन में भयानक लड़ाई हो रही है और बीस बरस से वहाँ की हालत बहुत खराब है, फिर भी वहां के नये साहित्य ने बहुत तरक्की की है, और जानदार है। इसी से असल अन्दाजा चीन के लोगों की अन्दरूनी शक्ति का है और हमें विश्वास होता है कि वह किसी बाहरी हमले से दब नहीं सकती। इसलिए यह हमारे लिए जरूरी है कि हम अपने साहित्य की तरफ काफी ध्यान दें, और उसको एक नया रूप दें, जिससे वह नये हिन्दुस्तान की हुलिया का एक आइना हो। हम हिन्दी और उर्दू या बंगला या किसी और भाषा की फिजूल बहसों में न पड़ें, बल्कि सभी की उन्नति की कोशिश करें। एक के बढ़ने से दूसरी भी बढ़ेगी। मुझे खुशी है कि उर्दू एकेडेमी उर्दू का यह काम करती है। इसी तरह से

हिन्दी-साहित्य के लिए भी काम करना चाहिये। और दोनों को मिलकर हिन्दुस्तानी साहित्य की मजबूत बुनियाद डालनी चाहिये। इस बात की हमें बहुत फिक्र नहीं करनी चाहिये कि हिन्दी और उर्दू में इस समय कितना फर्क है, अगर दोनों का उद्देश्य एक है--यानी आम जनता की भाषा की तरक्की--तब दोनों करीब आती जायंगी। बुनियादी बात यही है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रखें कि उनको थोड़े-से आदमियों के लिए नहीं लिखना है; बल्कि आम जनता के लिए लिखना है। तब उनकी भाषा सरल होगी और देश की असली संस्कृति की ताक़त उसमें आ जायगी। वह जमाना जाता रहा जब कि किसी देश की संस्कृति थोड़े-से ऊपर के आदमियों की थी। अब वह आम जनता की होती जाती है और वही साहित्य बढ़ेगा जो इस बात को सामने रखता है।

मुझे खुशी है कि दिल्ली में हिन्दी-परिषद् की बैठक होने वाली है।[1] मैं आशा करता हूँ कि इसमें हमारे साहित्यकार सब मिलकर ऐसे रास्ते निकालेंगे, जिससे हिन्दी-साहित्य और मजबूत हो और फैले। उनका काम किसी और साहित्य के विरोध में नहीं है; बल्कि उनके सहयोग से आगे बढ़ना। उर्दू हिन्दी के बहुत करीब है और इन दोनों का नाता तो पास का रहेगा ही। लेकिन हमें तो विदेशी साहित्यों से भी फायदा उठाना है; क्योंकि साहित्य की तरक्की विदेशों में बहुत हुई है और उससे हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आजकल की दुनिया में चारों तरफ लड़ाई, दंगा, फसाद हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी काफी फसाद है। और तरह-तरह की बहसें पेश होती हैं। ऐसे मौके पर यह और भी आवश्यक होता है कि हम अपनी नई संस्कृति की ऐसी बुनियाद रखें, जिसमें आजकल की दुनिया के विचार जम सकें। और जब हमारे सामने पेचीदा मसले आयें तो हम बहके-बहके न फिरें। संस्कृति को एक ऐसा पारस पत्थर होना चाहिए

---

१. यह बैठक १४, १५ और १६ अप्रैल १९३९ को हुई।

जिससे हर चीज की आजमाइश हो सके। अगर किसी-जाति के पास यह नहीं है तो वह दूर तक नहीं जा सकती। हमें अपने सांस्कृतिक मूल्य कायम करने हैं और उनको अपने साहित्य को और सभी काम की बुनियाद बनानी है।

१२ अप्रैल १९३९।

: ३१ :

स्नातिकायें क्या करें ?

बहुत वर्ष पहले मुझे महिला-विद्यापीठ के हाल के शिलारोपण का सौभाग्य मिला था। इन हाल ही के बरसों में इतनी बातें हो गई हैं कि समय का मुझे ठीक-ठीक अन्दाज नहीं रहा और थोड़े साल भी बहुत ज्यादा लगते हैं। तब से बराबर मैं राजनीतिक बातों में और सीधी लड़ाई में फँसा रहा हूँ और हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई मेरे दिमाग पर चढ़ी रही है। महिला-विद्यापीठ से मेरा सम्बन्ध नहीं रह सका। पिछले चार महीनों में, जिनमें मैं जेल की दीवारों के बाहर की विस्तृत दुनिया में रहा हूँ, मेरे लिए बहुत-से बुलावे आये हैं, और बहुत-सी सार्वजनिक कार्रवाइयों में हिस्सा लेने के निमन्त्रण मिले हैं। इन बुलावों की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया और सार्वजनिक कार्रवाइयों से भी दूर रहा हूँ; क्योंकि मेरे कान तो बस एक ही बुलावे के लिए खुले थे और उसी एक उद्देश्य में मेरी सारी शक्ति लगी थी। वह बुलावा था हमारी दुखी और बहुत समय से कुचली जाने वाली मातृभूमि--भारत का, और खास तौर से हमारी दीन, शोषित जनता का और वह उद्देश्य था हिन्दुस्तानियों की मुकम्मिल आजादी।

इसलिए इस अहम मसले से हटकर दूसरी और मामूली बातों की ओर जाने से मैंने इनकार कर दिया था। उन बातों में से कुछ अपने सीमित क्षेत्र में महत्त्व रखती थीं। लेकिन जब श्री संगमलाल अग्रवाल मेरे पास आये और जोर दिया कि मैं महिला-विद्यापीठ का दीक्षांत-भाषण दूँ ही, तो उनकी अपील का विरोध करना मुझे मुश्किल जान पड़ा; क्योंकि उस अपील के पीछे हिन्दुस्तान की लड़कियाँ अपनी जिन्दगी की देहलीज पर चिर-काल के बन्धन से स्वतन्त्र होने की कोशिश करती और

विवशता के साथ भविष्य को ताकती दिखाई दीं, यद्यपि जवानी के उत्साह से उनकी आंखों में आशा थी।

इसलिए खास हालत में और विवशता के साथ मैं राजी हुआ। मुझे आशा नहीं थी कि उससे भी जरूरी बुलावा और कहीं से नहीं आ-जायगा। और अब मैं देखता हूँ कि वह जरूरी बुलावा बेहद पीड़ित बंगाल के सूबे से आ गया है। वहां जाना मेरे लिए जरूरी है और यह भी मुमकिन है कि महिला-विद्यापीठ के कन्वोकेशन के वक्त पर न लौट सकूँ। इसके लिए मुझे दुःख है, और मैं यही कर सकता हूँ कि उसके लिए सन्देश छोड़ जाऊं।

अगर हमारे राष्ट्र को ऊंचा उठना है, तो वह कैसे उठ सकता है जब तक कि आधा राष्ट्र—हमारा महिला-समाज—पिछड़ा रहता है, अज्ञानी और कुपढ़ रहता है ? हमारे बच्चे किस प्रकार हिन्दुस्तान के संयत और प्रवीण नागरिक हो सकते हैं, अगर उनकी मातायें खुद संयत और प्रवीण नहीं हैं ? हमारा इतिहास हमें बहुत-सी चतुर और ऐसी औरतों के हवाले देता है जो सच्ची थीं और मरते दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनमें हमें प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान में तथा दूसरी जगहों में औरतों की हालत कितनी दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं, और आदमी ने अपने को ऊंची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों-जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे दबी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बढ़ा पाईं और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का दोष देता है।

धीरे-धीरे कुछ पश्चिमी देशों में औरतों को कुछ आजादी मिल गई है; लेकिन हिन्दुस्तान में हम अब भी पिछड़े हुए हैं, हालांकि उन्नति की भावना यहां भी पैदा हो गई है। यहां पर बहुत-सी सामाजिक बुराइयां हैं

जिनसे हमें लड़ना है, और बहुत-से पुराने रीति-रिवाज जो हमें बांधे हुए हैं और जो हमें अवनति की ओर ले जाते हैं, उन्हें तोड़ना है। पुरुष और स्त्रियां, पौधों और फूलों की तरह आजादी की धूप और ताजी हवा में ही बढ़ सकती हैं। विदेशी शासन की अन्धेरी छाया और गला घोटने-वाले वायुमण्डल में तो वे अपनी शक्ति क्षीण करती हैं।

इसलिए सबके सामने बड़ी समस्या यह है कि किसी तरह हिन्दुस्तान को आजाद करें और हिन्दुस्तानी जनता पर लदे हुए बोझ को कैसे दूर करें? लेकिन हिन्दुस्तान की औरतों का तो एक और काम है, वह यह कि वे आदमी के बनाये हुए रीति-रिवाजों और कानूनों के जुल्म से अपने को मुक्त करें। इस दूसरी लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा; क्योंकि आदमी से उन्हें मदद मिलने की सम्भावना नहीं है।

कन्वोकेशन के अवसर पर मौजूदा बहुत-सी लड़कियां और स्त्रियां अपनी पढ़ाई खत्म कर चुकी होंगी, डिगरी ले चुकी होंगी और एक बड़े क्षेत्र में काम करने के लिए अपने को तैयार कर चुकी होंगी। इस विस्तृत दुनिया के लिए वे किन आदर्शों को लेकर जायेंगी और कौन-सी अन्दरूनी भावना उन्हें स्वरूप देगी और उनके कामों की देख-भाल करेगी? मुझे डर है, उनमें से बहुत-सी तो रोजमर्रा के रूखे घरेलू कामों में फंस जायंगी और कभी-कभी ही आदर्शों या दूसरे दायित्वों की बात सोचेंगी। बहुत-सी सिर्फ रोटी कमाने की बात सोचेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों चीजें भी जरूरी हैं; लेकिन अगर महिला-विद्यापीठ ने सिर्फ यही अपने विद्यार्थियों को सिखाया है, तो उसने अपने उद्देश्य को पूरा नहीं किया। अगर किसी विद्यालय का औचित्य है तो वह यह कि वह सचाई, आजादी और न्याय के पक्ष में शूरवीरों को तैयार करे और दुनिया में भेजे। वे शूरवीर दमन और बुराइयों के विरुद्ध निर्भय युद्ध करें। मुझे उम्मीद है कि आप में से कुछ ऐसी हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो अंधेरी और बुरी घाटियों में पड़ी रहने की बनिस्बत पहाड़ पर चढ़ना और खतरों का मुकाबिला करना पसन्द करेंगी।

लेकिन हमारे विद्यालय पहाड़ पर चढ़ने में प्रोत्साहन नहीं देते। वे तो चाहते हैं कि नीचे के देश और घाटी सुरक्षित रहें। वे मौलिकता और आजादी को प्रोत्साहन नहीं देते और हमारे विदेशी शासकों के सच्चे बच्चों की भांति ऊपर से शासन और व्यवस्था का थोपा जाना उन्हें पसन्द है। इसमें ताज्जुब ही क्या है, अगर उनके काम निराशा-जनक, बेकार और क्षीण हैं और हमारी बदलती हुई दुनिया में ठीक नहीं बैठते हैं!

हमारे विद्यालयों की बहुतों ने आलोचना की है। उनमें से बहुत-सी आलोचनायें ठीक भी हैं। वास्तव में मुश्किल से किसी ने हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों की तारीफ की है। लेकिन आलोचकों ने भी विद्यालय की शिक्षा को उच्चवर्गीय साधन माना है। उसका जनता से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा की जड़ें धरती में होकर नीचे जनता तक पहुँचनी चाहिएं अगर शिक्षा को वास्तविक और राष्ट्रीय होना है। हमारी विदेशी सरकार और पुरानी दुनिया के रीति-रिवाज के कारण, यह आज संभव नहीं है। लेकिन आप में से जो विद्यापीठ से निकलकर दूसरों की शिक्षा में मदद देंगी, उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए और तब्दीली के लिए कोशिश करनी चाहिए।

कभी-कभी कहा जाता है, और मेरा विश्वास है कि विद्यापीठ खुद इस बात पर जोर देता है, कि स्त्रियों की शिक्षा आदमियों की शिक्षा से जुदा होनी चाहिए। स्त्रियों को घरेलू कामों के लिए और खूब प्रचलित शादी के पेशे के लिए तैयार किया जाना चाहिए। मैं स्त्री-शिक्षा के इस सीमित और एकपक्षीय विचार से सहमत नहीं हो सकूंगा। मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिए और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए जिससे वे तमाम पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सकें। खास तौर से शादी को पेशा समझने और स्त्री के लिए उसे एक-मात्र आर्थिक सहारा मानने की आदत को दूर करना होगा। तभी स्त्री को आजादी मिल सकती है। आजादी

राजनीतिक की बनिस्बत आर्थिक हालतों पर निर्भर होती है। अगर स्त्री आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नहीं है और अपनी आजीविका स्वयं पैदा नहीं करती तो उसे अपने पति या और किसी पर निर्भर रहना होगा, और दूसरों पर निर्भर रहने वाले कभी आजाद नहीं होते। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध बिलकुल आजादी का होना चाहिए, एक-दूसरे पर निर्भर होने का नहीं।

विद्यापीठ की ग्रेजुएटो, बाहर जाकर आपका क्या कर्त्तव्य होगा? क्या आप सब बातों को जैसी वे हैं, चाहे जितनी बुरी वे हों, स्वीकार कर लेंगी? क्या अच्छी बातों के प्रति हार्दिक और बेकार सहानुभूति दिखाकर ही संतुष्ट हो जायंगी, और कुछ करेंगी नहीं? या अपनी शिक्षा का औचित्य नहीं दिखायंगी और बुराइयां जो आपको घेरे हुए हैं उनका विरोध करके अपनी शक्ति आप साबित नहीं करेंगी? क्या आप पर्दे के, जो हैवानी युग का एक दोषपूर्ण अवशेष है और जो हमारी बहुत-सी बहनों के दिलो-दिमाग को जकड़े हुए है, टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालेंगी और उन टुकड़ों को नहीं जला देंगी? अस्पृश्यता और जाति से, जो मानवता का पतन करती हैं और जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोषण करने में मदद देती हैं, क्या आप नहीं लड़ेंगी और इस तरह मुल्क में बराबरी पैदा करने में मदद नहीं देंगी? हमारे शादी के बहुत से कानून हैं और प्राचीन रीति-रिवाज हैं, जो हमें पीछे रोके हुए हैं और खास तौर से हमारी स्त्रियों को कुचलते हैं, क्या आप उनसे मोरचा नहीं लेंगी और उन्हें मौजूदा हालतों के साथ नहीं लायेंगी? क्या आप खुली हवा में खेल-कूद और व्यायाम और रहन-सहन से स्त्रियों के शरीर को पुष्ट करने के लिए, जिससे हिन्दुस्तान में मज़बूत, तन्दुरुस्त और सुन्दर स्त्रियां और खुश बच्चे हों, आप शक्ति और दृढ़ता के साथ नहीं लड़ेंगी? और सबसे ऊपर, क्या आप राष्ट्रीय और सामाजिक स्वतन्त्रता की लड़ाई में, जो आज हमारे मुल्क में हलचल मचाये हुए है, एक बहादुराना हिस्सा नहीं लेंगी?

ये बहुत-से सवाल मैंने आपसे किये हैं, लेकिन उनके जवाब उन

हजारों बहादुर लड़कियों और स्त्रियों से मिल गये हैं जिन्होंने पिछले चार सालों में हमारी आजादी की जंग में खास हिस्सा लिया है। सार्वजनिक काम करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़कर हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कंधे-से कंधा मिला कर खड़ी हुई उन बहनों को देखकर कौन नहीं कांप उठा ! बहुत-से आदमियों को, जो अपने को आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया और दुनिया को घोषित कर दिया कि हिन्दुस्तान की औरतें भी अपनी लम्बी नींद से उठ बैठी हैं और अब उनके अधिकारों से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हिन्दुस्तान की औरतों ने मेरे सवालों के जवाब दे दिये हैं और इसलिए महिला-विद्यापीठ की लड़कियों और स्त्रियों, मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ और आपके हाथ में यह जिम्मेदारी सौंपता हूँ कि आप आजादी की मशाल को प्रज्वलित रखें, जब तक कि उसकी लपटें हमारे इस प्राचीन और प्रिय देश में सब जगह न फैल जावें।

: ३२ :

हिन्दुस्तान और वर्तमान महायुद्ध

घटना-चक्र तेजी से चल रहा है। अदम्य प्रेरणा उसे आगे बढ़ाती है और एक घटना दूसरी से आगे बढ़ जाती है। भौतिक शक्तियां दुनिया को इधर-उधर दौड़ा रही हैं और उन आयोजनाओं को घृणा की दृष्टि से देख रही हैं जिन्हें अधिकार-प्राप्त लोग चलाना चाहते हैं। आदमी और औरतें भाग्य के हाथ के खिलौने हो रहे हैं और लड़ाई के उबलते भंवर में खिंचे आ रहे हैं। हम सब किधर जायंगे, और इस संघर्ष का जिसमें कि राष्ट्र अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए बेतहाशा लड़ रहे हैं, क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। फिर भी हम दुनिया के अपने अध्ययन से कह सकते हैं कि दुनिया हमारी आंखों के सामने नष्ट हुई जा रही है। आगे क्या होगा, यह कोई नहीं जानता।

दुनिया के इस महत्त्वपूर्ण दुःखांत नाटक में हिन्दुस्तान क्या भाग लेगा ? कांग्रेस की कार्य-समिति ने प्रभावशाली और गौरवपूर्ण शब्दों में वह मार्ग बता दिया है, जिस पर हमें चलना है। हालांकि अंतिम निश्चय अभी तक नहीं हुआ है, फिर भी निश्चय करने वाले बुनियादी सिद्धांत बना दिये गये हैं। बुनियादी फैसला तो पहले ही हो गया है और मौजूदा हालतों के अनुसार उसे कैसे अमल में लाया जाय, यही बात अभी तय करने के लिए है। उसका अमल में लाना अब तो इस बात पर निर्भर है कि कहां तक उन बुनियादी सिद्धांतों को ब्रिटिश सरकार स्वीकार करती है और अमल में लाती है। संक्षेप में, हिन्दुस्तान अब कभी भी इस बात पर राजी नहीं हो सकता कि वह साम्राज्य का एक भाग रहे; न वह यह चाहेगा कि उसे गुलाम राष्ट्र माना जाय जो दूसरों के हुक्म पर नाचता फिरे। चाहे शान्ति हो या युद्ध, हिन्दुस्तान को स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत

से काम करने का हक होना चाहिए।

हाल ही के इतिहास में कोई भी चीज इतनी अचरज की नहीं है जितना कि लड़ाई के पहले ब्रिटिश-सरकार का पूरी तरह से दिवालिया-पन है। यह सचाई के साथ कहा जा सकता है कि अपनी ही नीति से उसने अपनी सारी मुसीबतें अपने और दुनिया के ऊपर बुलाई हैं। मंचूरिया, एबीसीनिया, चेकोस्लोकिया, स्पेन और पिछले साल सोवियट रूस के साथ किया गया अपमान-जनक व्यवहार, इन सबके कारण धीरे-धीरे विश्वसंकट पास-से पास आ गया है और अब हम सब को उस संकट में डूबना पड़ा है। इंग्लैंड बहादुरी और दृढ़ता के साथ संकट का मुकाबिला कर रहा है; लेकिन उसे अपनी पुरानी नीति के भारी बोझ को भी तो उठाना है और उसी नीति को ध्यान में रखकर उसने प्रजातन्त्र और और आजादी के बारे में जो घोषणा की है उसका कोई मूल्य नहीं है। अब भी उस बोझ को उतार फेंकने का और साम्राज्यवादी परम्परा को छोड़ने का उसे मौका दिया गया है। इस तरह सब साथी एक हैसियत से सबकी आजादी के ध्येय की तरफ बिना रुकावट के बढ़ें, इसके अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। क्या ब्रिटिश-सरकार इतनी बुद्धिमान् और महान् है कि राजी से इस रास्ते पर श्रद्धापूर्वक चलेगी ?

अबतक तो उसने बुद्धिमानी का बहुत ही अभाव दिखाया है और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में कुछ ऐसी कार्रवाइयां भी की हैं जो भारतीयों की इच्छा के एकदम प्रतिकूल हैं। क्या वह सोचती है कि वह जनता जिसमें स्वाभिमान है और जिसे अपनी शक्ति का ज्ञान है, ऐसे व्यवहार को स्वीकार कर सकती है ? हिन्दुस्तान अब विदेशी सत्ता के हुक्म पर चलने के लिए न खींचा जा सकता है, न बाध्य किया जा सकता है। समय आ गया है कि साम्राज्य की भावना का अन्त कर दिया जाय और स्वतन्त्र राष्ट्रों की मित्रता और सहयोग प्राप्त किया जाय। बराबरी की हैसियत की शर्त पर हिन्दुस्तान को स्वतन्त्र देश माना जाना चाहिए और वैसा ही उसके साथ व्यवहार होना चहिए। ऐसा न किया गया तो उससे संघर्ष

होगा और वह सब राष्ट्रों के लिए बदकिस्मती का बायस होगा।

दूसरे आदमियों की तरह, हमारे अपने आदमियों के लिए भी यह भारी परीक्षा का समय है। अगर हम इस परीक्षा में असफल हुए तो पीछे रह जायंगे और दूसरे आगे बढ़ जायंगे। हम इस दल या उस दल, यह जमात या यह मजहबी दल या वह, या उग्र या नरम पक्ष की परिभाषा में नहीं सोच सकते। सोचना भी नहीं चाहिए। हिन्दुस्तान और दुनिया की आजादी के महान् लक्ष्य के लिए राष्ट्रीय संगठन की इस समय जरूरत है। अगर हम अपने मामूली कलहों को जारी रखें, मतभेदों पर जोर दें, एक-दूसरे में बुरे हेतुओं की आशंका करें, और किसी दल या पार्टी के लिए फायदा उठाने की कोशिश करें, तो उससे ही छोटापन जाहिर होता है; जबकि बड़े मसले खतरे में हैं। उससे तो हिन्दुस्तानियों को हानि ही पहुँचाई जाती है।

कांग्रेस की कार्य-समिति ने मार्ग बताया है। भारत ने आवाज उठाई है, और उसकी पुकार ने हमारे हृदयों में प्रतिध्वनि पैदा की है। हम सबको उसी पर चलना चाहिए और इस संकट के समय में आवाज-कशी नहीं करनी चाहिए। हरेक कांग्रेसी को चाहिए कि सोच-समझकर कुछ कहे या करे, ताकि वह कुछ ऐसा न कहे या करे जिससे राष्ट्र के इरादे में कोई कमजोरी आवे या उससे कांग्रेस की शान कम हो। हम सब एक हैं, एक साथ बोलते हैं और हिन्दुस्तान के लिए, जिसके प्रेम से अब तक हमने प्रेरणा पाई है और जिसका सेवा हमारा परम सौभाग्य रहा है, हम एक साथ काम करेंगे। भविष्य हमें इशारा कर रहा है। आइए, आजादी के ध्येय की ओर हम सब एक साथ बढ़ें।

२१ सितम्बर १९३९।

: ३३ :

कांग्रेस का भविष्य[1]

हर शख्स हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक मसले के महत्त्व को स्वीकार करता है, लेकिन जिस तरीके से उसे आगे लाया जा रहा है, वह जैसा कि कांग्रेस कार्य-समिति ने कहा है, असली कठिनाइयों से बचने की केवल कोशिश है। कांग्रेस इस सवाल के हरेक पहलू पर विचार करने के लिए पूरी तरह से तैयार और राजी है। लेकिन इसे ब्रिटिश सरकार के हाथ में देना तो उसे राजनीतिक प्रगति को रोकने का एक बहाना बनाना है। कहा जाता है कि कांग्रेस तमाम हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व नहीं करती। बेशक नहीं करती। उसके जो विरोधी हैं, उनका प्रतिनिधित्व वह नहीं करती। लेकिन कांग्रेस के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह यह है कि वह तमाम हिन्दुस्तान की तरफ से बोलने का प्रयत्न और दावा करती है और यह उससे बिलकुल जुदा बात है। इसका मतलब यह है कि वह जो कुछ मांगती है, वह किसी खास दल, या जाति के लिए नहीं है, बल्कि तमाम राष्ट्र के लिए माँगती है। मैं खयाल भी नहीं कर सकता कि किस तरह कोई भी हिन्दुस्तानी इस मांग पर आपत्ति कर सकता है, हालांकि लोग कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान की उस मांग में अल्प-संख्यकों के जैसे खास हितों की हिफाजत होनी चाहिए। कांग्रेस की यह मांग जनतंत्र की बुनियाद पर है; क्योंकि कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दुस्तान में जनतंत्रीय राज्य कायम करने का है। जनतंत्र में अल्प-संख्यकों के हक और हितों की रक्षा बाहर नहीं रहती। लेकिन यह तो एक वाहियात

---

१. बम्बई में २५ अक्टूबर १९३९ ई० को हुई प्रेस-कान्फ्रेंस में किये गए सवालों का जवाब।

बात होगी अगर अल्प-संख्यकों के नाम जनतंत्र को ही छोड़ दिया जाय।

हिन्दुस्तान में जनतंत्री हुकूमत के तीन पक्ष हो सकते हैं—फासिज्म, सोवियटिज्म या विदेशी शासन के नीचे हिन्दुस्तान का बराबर गुलाम रहना। इसके सिवाय और किसी पक्ष का मैं विचार नहीं कर सकता। मैं यह मान लेता हूँ कि हम सब इस बात पर एक-राय हैं कि हिन्दुस्तान में हम फासिज्म नहीं चाहते, और न निश्चय ही हम हिन्दुस्तान में विदेशी हुकूमत चाहते हैं। इसलिए हमारे सामने सिर्फ एक ही पक्ष सोवियट हुकूमत का रूप रह जाता है जो जनतत्र तक पहुंच भी सकता है और नहीं भी पहुंच सकता। हाल ही में हिन्दुस्तान में जनतंत्र के आदर्श की बहुत-से लोगों ने आलोचना की है। मैं नहीं जानता कि उन्होंने यह भी सोचा है या नहीं कि उस आदर्श को छोड़ देने का अनिवार्य नतीजा क्या होगा। हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत में मैं जनतंत्र के सिवाय और कोई लक्ष्य नहीं देखता। अल्प-संख्यकों को मुनासिब संरक्षण दे देने से जनतंत्र उससे संबंध रखने वाले हरेक आदमी के लिए सबसे अच्छा होगा। बेशक बहुसंख्यक हमेशा बहुसंख्यक रहेंगे। कोई भी चीज बहुसंख्यक समाज को अल्पसंख्यक समाज में तब्दील नहीं कर सकती। हां, यह सिर्फ फासिस्ट या फौजी गुट बन्दी से संभव हो सकता है। जहाँतक मुसलमानों का संबंध है, वहाँतक बहु-संख्यक और अल्प-संख्यक की परिभाषा में बात करना मुगालते की बात होगी। एक सात करोड़ की मजहबी जमात को अल्प-संख्यक नहीं समझा जा सकता। मुसलमान तमाम हिन्दुस्तान में फैले हुए हैं और कुछ सूबों में उनका बहुमत भी है और ऐसे सूबों में अल्प-संख्यकों का मसला बाकी हिन्दुस्तान के मसले से एकदम जुदा है।

मैं यह जरा भी ख्याल नहीं कर सकता कि ऐसी हालतों में हिन्दू मुसलमानों को सता सकते हैं, या मुसलमान हिन्दुओं पर जुल्म कर सकते हैं; या यह कि हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर मजहबी जमात के रूप में और किसी पर अत्याचार कर सकेंगे। सिख संख्या में बहुत कम हैं;

लेकिन मैं नहीं सोचता कि जरा भी मौका इस बात का हो सकता है कि कोई उन्हें सतावे। यह बदकिस्मती की बात है कि इस साम्प्रदायिक सवाल ने यह शक्ल अख्तियार कर ली है और हिन्दुस्तान की आजादी के रास्ते में रोड़े के रूप में उसका इस्तैमाल किया जा रहा है।

पिछले दो सालों में कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारों के खिलाफ मुसलमानों को कुचलने और उन पर जुल्म करने के भारी इल्जामों से मुझे जितना अचरज और दुःख हुआ है, उतना और किसी बात से नहीं हुआ। कांग्रेसी सरकारों ने बहुत-से महकमों के संबंध में बहुत सी भूलें की हैं, जैसा कि स्वाभाविक था; लेकिन व्यक्तिगत रूप से मुझे पूरा यकीन है कि अल्प-संख्यकों के साथ बर्ताव करने में उन्होंने इस बात का ज्यादा-से-ज्यादा खयाल रखा है कि उनके हकों को चोट न आवे। अनिश्चित इल्जामों की निष्पक्ष जांच के लिए हमने कई दफा प्रस्ताव किया है और अभी तक हमारा वह प्रस्ताव कायम है। इस पर भी बेबुनियाद वक्तव्य दिये जा रहे हैं। जहां तक कांग्रेसका संबंध है, वह साम्प्रदायिक या अल्प-संख्यकों के सवाल के सब पहलुओं पर विचार करने के लिए आज भी तैयार है; जैसी कि वह हमेशा रही है, जिससे सब आशंकायें और शुबहे दूर हो जायं और संतोषजनक फैसला हो जाय। लेकिन कांग्रेस ऐसे किसी भी प्रस्ताव पर विचार नहीं कर सकती जो हिन्दुस्तान की एकता और आजादी के खिलाफ जाता हो और जो जनतंत्र के आदर्शों की मुखालिफत करता हो।

हमारी लड़ाई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ है। हम अपने किसी देशवासी या देश की संस्था से नहीं लड़ना चाहते। यह हिन्दुस्तान की बदकिस्मती है अगर कोई भी हिन्दुस्तानी या कोई संस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संधि करती है। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हिन्दुस्तान ऐसी बदकिस्मती से बच जायगा।

ऐसे संकट का, जैसा कि आजकल है, एक बड़ा फायदा यह है कि वे लोगों और संस्थाओं को अपना असली रूप दिखाने के लिए मजबूर करते

हैं। तब अनिश्चित शब्दों का कहना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना, नामुमकिन हो जाता है; क्योंकि उन बातों को अमल में लाना होता है। इस तरह मौजूदा संकट का नतीजा यह होगा कि हिन्दुस्तान की राजनीति से वह कोहरा दूर हो जायगा जिसकी वजह से मसले गड़बड़ में पड़ गये हैं और जनता समझ जायगी कि लोगों के और संस्थाओं के उद्देश्य क्या हैं।

कांग्रेस के भविष्य पर कुछ कहना स्पष्टतः मेरे लिए मुश्किल है। वह बहुत-सी बातों पर मुनहसिर है। मंत्रियों का इस्तीफा ही अपने आप में एक भारी बात है। यह भारी बात न होती, लेकिन जिस खास हालत में यह फैसला किया है, वह एक भारी बात है। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सारी मशीनरी के खिलाफ असहयोग का कदम है। इसके महान् परिणाम होंगे और हम चाहते हैं कि मुल्क उन परिणामों के लिए तैयार रहे। वे परिणाम कब और किस रूप में हमारे सामने आवेंगे; यह इस हालत में बताना मेरे लिए ठीक नहीं हैं। आजकल जैसे हालात हैं, उनमें एकदम अलगाव रखना करीब-करीब नामुमकिन है।

: ३४ :

कांग्रेस और वर्तमान महायुद्ध[1]

यूरोप में लड़ाई की घोषणा के कारण जो विषम संकटापन्न परिस्थिति पैदा हो गई है, उस पर वर्किंग कमेटी ने अच्छी तरह विचार किया। युद्ध के समय राष्ट्रों को जिन उसूलों के अनुसार काम करना चाहिए, उनकी चर्चा कांग्रेस ने बराबर की है, और अभी केवल एक ही महीना हुआ, जब कि इस कमेटी ने उन उसूलों को दोहराया था और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने जिस तरह भारतीय लोकमत की उपेक्षा की, उस पर कमेटी अपनी नाराजी भी जाहिर कर चुकी है। ब्रिटिश सरकार की इस नीति से अपने को अलग रखने के लिए कांग्रेस ने पहला कदम यह रखा कि उसने केन्द्रीय धारा-सभा के कांग्रेसी सदस्यों को सभा के अगले अधिवेशन में जाने से मना कर दिया। उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को एक लड़ाकू राष्ट्र घोषित कर दिया, आर्डिनेंस जारी कर दिये, गवर्नमेंट आव इंडिया ऐक्ट संशोधन बिल पास किया, और ऐसी कई व्यवस्थायें कीं, जिनका असर हिन्दुस्तान की जनता पर पड़ता है और जिनसे प्रांतीय सरकारों के कार्य परिमित हो जाते हैं। यह सब हिन्दुस्तान की जनता से बगैर पूछे ही किया गया। भारतीय प्रजा ऐसे मामलों में अपनी जिन इच्छाओं को घोषित कर चुकी है उनकी ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर उपेक्षा की है। वर्किंग कमेटी इन सब परिस्थितियों को बहुत ही गम्भीरता से ग्रहण करेगी। कांग्रेस ने अक्सर फासिज्म और नात्सीवाद

---

१ कांग्रेस-कार्य-समिति ने वर्तमान महायुद्ध के बारे में यह वक्तव्य दिया था। इसके बनाने में जवाहरलालजी का काफी हाथ था। इसलिए उसे यहां दिया जाता है।—सम्पादक

के सिद्धान्तों और उनके युद्ध और हिंसा-प्रेम की निन्दा की है, जिनके जरिये मानवता को दबाया जाता है। कांग्रेस ने उनके आक्रमण करने की चेष्टा और उग्रता का विरोध किया है, और सभ्य संसार के माने हुए व्यवहार को जिस तरह उन्होंने ठुकराया है, उसको भी कांग्रेस ने निन्दा की है। कांग्रेस ने अक्सर फासिज्म और नात्सीवाद में साम्राज्यवादी सिद्धान्तों को देखा, जिनके विरुद्ध भारतवासी खुद लड़ाई जारी किये हुए हैं। इसलिए वर्किंग कमेटी जर्मनी की नात्सी-सरकार के ताजे हमले की बिना संकोच निन्दा करते हुए पोलैंड के साथ हमदर्दी रखती है, जो इस समय नात्सियों का मुकाबिला कर रहा है।

कांग्रेस ने यह कह दिया है कि हिन्दुस्तान के लिए युद्ध या शान्ति-सम्बन्धी बातों का निर्णय करनेवाला खुद हिन्दुस्तान है, और कोई भारतीय अधिकारी यह निर्णय हिन्दुस्तान पर नहीं लाद सकता, और न भारतवासी इसकी इजाजत ही देंगे कि उनके साधनों से साम्राज्यवादी उद्देश्य पूरे किये जायं। अगर भारतवासियों पर वैसा कोई निर्णय ल[illegible] गया, या उनकी मंजूरी के बगैर भारतीय साधनों से काम लिया गया तो वे इसकी निश्चय ही मुखालिफत करेंगे अगर एक अच्छे उद्देश्य के लिए सहयोग प्राप्त करने की इच्छा है तो ऐसा सहयोग जबर्दस्ती नहीं पाया जा सकता, और बाहरी अधिकारियों द्वारा प्रकाशित की गई आज्ञाओं को कमेटी पूरा नहीं होने दे सकती। सहयोग तो बराबरवालों में होना चाहिए, जिसमें एक समान उद्देश्य को पूरा करने के लिए दोनों पारस्परिक स्वीकृति से काम करें। भारतीय जनता ने इधर हाल में बहुत बड़े जोखिम का सामना किया, और उसने अपनी स्वतन्त्रता तथा हिन्दुस्तान में लोक-तन्त्र स्थापित करने के लिए बहुत बड़ी कुर्बानी की। हिन्दुस्तानियों की सहानुभूति पूरे तौर से लोकतन्त्रवाद और स्वतन्त्रता के साथ है, पर हिन्दुस्तान ऐसे किसी युद्ध में शरीक नहीं हो सकता, जिसके बारे में यह कहा जाय कि वह युद्ध लोकतन्त्रवाद और स्वतंत्रता के लिए लड़ा जा रहा है, जब कि वही स्वतन्त्रता हिन्दुस्तान को नहीं मिल रही है, और जो थोड़ी-सी सीमित

स्वतन्त्रता मिली भी है तो वह भी उससे छीन ली गई है।

वर्किंग कमेटी यह जानती है कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने यह ऐलान किया है कि वे लोकतन्त्रवाद और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जर्मनी से लड़ रही हैं, और वे आक्रमण तथा उद्दंडता का खातमा कर देना चाहती हैं। पर हाल के इतिहास में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनसे मालूम होता है कि कहे हुए शब्दों, घोषित आदर्शों और असली उद्देश्यों में बहुत फर्क होता है, जैसा कि सन् १९१४-१८ के महासमर से प्रकट हो चुका है। युद्ध के उद्देश्य घोषित किए गए थे कि लोकतन्त्र-वाद, आत्म-निर्णय और छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना मुख्य काम है; पर जिन राष्ट्रों ने उन उसूलों की घोषणा की, उन्होंने ही तुर्की के साम्राज्य को खत्म कर देने लिए गुप्त संधियाँ की थीं, उन राष्ट्रों ने उस समय यह कहा था कि वे कोई राज्य नहीं लेना चाहते, पर तो भी विजयी राष्ट्रों (फ्रांस और इंग्लैंड) ने बहुत बड़े देश अपने औपनि-वेशिक साम्राज्य में मिला लिये।

वर्त्तमान युद्ध से भी यह मालूम होता है कि वर्साई-सन्धि किस तरह विफल हुई और उस सन्धि के निर्माताओं ने अपने वादे तोड़कर साम्राज्य-वादी संधि को किस तरह पराजित राष्ट्रों पर लागू किया। उस संधि के द्वारा एकमात्र आशा की झलक राष्ट्र-संघ से जाहिर हुई थी, पर उस संघ को कायम करनेवाले राष्ट्रों (फ्रांस और इंग्लैंड) ने ही उसे अन्त में खत्म कर डाला।

हाल के इतिहास से ही यह मालूम होता है कि किस तरह घोषित सिद्धान्त खुद भंग किये जा सकते हैं। मंचूरिया में ब्रिटिश सरकार ने जापान के आक्रमण को उत्तेजन दिया। एबिसीनिया में उसने इटली की सत्ता मान ली; चेकोस्लोवाकिया और स्पेन में लोकतन्त्रवाद खतरे में था और वहाँ जान-बूझकर लोकतन्त्रवाद को धोखा दिया गया और सामूहिक रक्षा की सम्पूर्ण पद्धति को उन्हीं राष्ट्रों ने नष्ट किया, जिन्होंने कि उसमें अपना पुख्ता विश्वास प्रकट किया था।

यह फिर घोषणा की गई है कि लोकतन्त्रवाद खतरे में है और उसकी जरूर रक्षा करनी चाहिए। इस वक्तव्य से वर्किंग कमेटी की पूरी सहानुभूति है। कमेटी का विश्वास है कि यूरोप की जनता पर इस आदर्श और उद्देश्य का अच्छा असर पड़ेगा और इसके लिए वे आत्म-त्याग करने को भी तैयार होंगे। पर जनता के आदर्शों और उद्देश्यों की बार-बार उपेक्षा की गई और उन्हें भंग किया गया। अगर इस युद्ध के जरिये साम्राज्य-वादी राष्ट्रों का अपनी मौजूदा स्थिति (यानी उनके साम्राज्य) और स्वार्थों की रक्षा करने का हेतु है, तो हिन्दुस्तान ऐसे युद्ध से कुछ भी वास्ता नहीं रख सकता। पर अगर उसके जरिये लोकतन्त्रवाद और उसके आधार पर विश्व के नियम की रक्षा करनी है तो हिन्दुस्तान का इस युद्ध से घनिष्ट सम्बन्ध है। वर्किंग कमेटी को इसका निश्चय है कि भारतीय लोकतन्त्रवाद के स्वार्थों का संघर्ष ब्रिटिश लोकतन्त्रवाद या विश्व-लोक-तन्त्रवाद से नहीं होता। अगर ब्रिटेन लोकतन्त्रवाद की रक्षा करने और उसे बढ़ाने के लिए लड़ रहा है तो उसे चाहिए कि पहले अपने अधि-कार के साम्राज्यवाद का अन्त करे, और हिन्दुस्तान में पूर्ण रूप से लोक-तन्त्रवाद स्थापित करे। और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भार-तीय प्रजा को एक विधान-परिषद् के द्वारा अपना विधान बनाने का अधि-कार दिया जाय। भारत अपनी ही नीति का संचालन करे, और इन कार्यों में किसी भी बाहरी अधिकारी का हाथ न हो। स्वतन्त्र लोकतन्त्रवादी हिन्दुस्तान खुशी से दूसरे राष्ट्रों के साथ खतरे का सामना करने के लिए तैयार रहेगा और वह दूसरे राष्ट्रों से आर्थिक सहयोग भी करेगा। तब भारत स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के आधार पर संसार के सच्चे निर्माण में हिस्सा लेगा और मानवजाति की उन्नति के लिए वह संसार के ज्ञान और साधनों से काम लेगा।

इस समय यूरोप पर जो विषम संकट आया हुआ है वह केवल यूरोप का ही नहीं, सारी-मानव-जाति का है और इन युद्धों की तरह यह संकट इस तरह नहीं टल जायगा कि मौजूदा संसार की पद्धति बनी रहे। हो

सकता है कि इस युद्ध से कुछ भला हो। इस समय जो राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक संघर्ष है, ये सब गत महायुद्ध के परिणाम हैं। गत महायुद्ध से सामाजिक और आर्थिक संघर्ष बहुत बढ़ गये और जबतक ये संघर्ष दूर न होंगे, संसार में निश्चयात्मक रूप से कोई नियम या संगठन भी न होगा। उस संगठन या सामंजस्य का आधार यही हो सकता है कि एक देश की दूसरे देश पर प्रभुता न हो और न शोषण हो, और सब की भलाई के लिए न्यायपूर्ण आधार पर राष्ट्रों के आर्थिक सम्बन्ध का फिर से संगठन हो। हिन्दुस्तान इस समस्या की एक कसौटी है और आधुनिक प्रणाली का साम्राज्यवाद हिन्दुस्तान में कायम है और इस जरूरी समस्या के सुलझाने का जब तक प्रयत्न न होगा तब तक संसार का कोई पुनः संगठन सफल भी न होगा। भारत के साधन असीम हैं और वह अपने इन साधनों से विश्व-रचना की किसी भी योजना में महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस के निर्णय में अधिक देरी नहीं की जा सकती, क्योंकि भारत का सम्बन्ध नित्य की नीति से है जिसे वह मंजूर नहीं करता। इसलिये कमेटी ब्रिटिश सरकार से कहती है कि वह साफ घोषणा कर दे कि लोकतन्त्रवाद और साम्राज्य के सिलसिले में युद्ध-सम्बन्धी उसके क्या उद्देश्य हैं और हिन्दुस्तान पर उन उद्देश्यों को मौजूदा स्थिति में किस तरह लागू किया जायगा। कमेटी ने युद्ध की विभीषिकाओं का जिक्र करते हुए कहा है कि यूरोप और चीन में उन विभीषिकाओं को रोकना चाहिए, किन्तु फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद के दूर होने पर ही वे विभीषिकायें भी दूर होंगी। उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कमेटी अपना सहयोग प्रदान करती है।

मगर हिन्दुस्तान, जिसने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियां बहुत खर्च की हैं, ऐसा आजाद राष्ट्र होकर ही कर सकता है। स्वतन्त्रता इस समय अविभाज्य है और संसार के किसी भी भाग पर साम्राज्यवादी प्रभुता कायम रखने के हरेक प्रयत्न का परिणाम नया संकट पैदा करना होगा। वर्किंग कमेटी ने इस बात को नोट किया है कि बहुत से देशी

नरेशों ने यूरोप में जन-सत्ता की रक्षा के लिए अपनी सारी सेवायें व अपने राज्य के तमाम साधन समर्पित करने के आश्वासन दिये हैं। अगर देशी नरेशों को विदेशों में जन-सत्ता की रक्षा का पक्ष ग्रहण करना है तो कमेटी की यह तजवीज है कि पहले उनका काम यह होना चाहिए कि वे अपनी रियासतों के अन्दर जन सत्ता कायम करें, जहाँ कि इस समय निरंकुशता के लिए खुद देशी नरेशों की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार जिम्मेदार है, जैसा कि पिछले साल के अन्दर दुःख के साथ साफ दिखाई दिया है। उसकी यह नीति जनसत्ता और संसार की नई व्यवस्था के खिलाफ है, जिसके लिए ग्रेट ब्रिटेन का यह दावा है कि वह उसके लिए यूरोप में लड़ाई लड़ रहा है। वर्किंग कमेटी यूरोप, अफ्रीका और एशिया की पिछली घटनाओं पर और खास भारत की गुजरी और मौजूदा घटनाओं पर नजर डालते हुए यह देख रही है कि जन-सत्ता या आत्म-निर्णय के हित को आगे बढ़ाने का कोई यत्न नहीं हो रहा है और न यही दिखाई देता है कि ब्रिटिश सरकार ने जिन उसूलों के लिए लड़ाई का ऐलान किया है उन पर अमल हो रहा है या अमल होने जा रहा है। जन-सत्ता का सच्चा उपाय साम्राज्यवाद या फासिज्म का अन्त करना है और उस आक्रमण का भी, जिसका कि इन वादों के साथ भूत और वर्तमान समय में साथ रहा है। केवल इसी आधार पर नई व्यवस्था के लिए वर्किंग कमेटी हर तरह से सहायता देने के लिए उत्सुक है। पर कमेटी ऐसी किसी भी लड़ाई में सहयोग या सहायता नहीं दे सकती, जो साम्राज्यवादी तरीके पर चलाई जाती है और जिसका उद्देश्य हिन्दुस्तान व दूसरे स्थानों में साम्राज्यवाद का बल बढ़ाना है। लेकिन समय की गम्भीरता और इस बात को देखते हुए कि पिछले कुछ दिनों के अन्दर घटनायें मनुष्य के दिमाग की चाल से भी अधिक तेजी से घटित हो रही हैं, वर्किंग कमेटी इस वक्त कोई आखिरी निर्णय नहीं करना चाहती, ताकि इस बात की पूरी व्याख्या हो जाय कि हिन्दुस्तान की मौजूदा और आने वाली स्थिति के सम्बन्ध में असली उद्देश्य क्या है। पर निर्णय बहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकता,

क्योंकि हिन्दुस्तान ऐसी नीति में रोज-बरोज फंसता जा रहा है जिसके पक्ष में वह नहीं है और जिसको वह नापसन्द करता है। इसलिए वर्किंग-कमेटी ब्रिटिश सरकार से कहती है कि वह साफ-साफ शब्दों में यह ऐलान कर दे कि जन-सत्ता और साम्राज्यवाद के बारे में संसार की नई व्यवस्था में उसके युद्ध-सम्बन्धी उद्देश्य क्या हैं, और हिन्दुस्तान के प्रति उद्देश्य किस तरह अमल में लाये जायँगे; और इस समय इन पर किस तरह अमल होगा। क्या उसके उद्देश्यों में यह भी है कि हिन्दुस्तान से साम्राज्यवाद हटा दिया जाय और उसके साथ एक स्वतन्त्र राष्ट्र का-सा व्यवहार किया जाय जिसकी नीति उसकी जनता के इच्छाओं के अनुकूल चलेगी?

भविष्य के लिए अगर सरकार साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद का खात्मा करने के लिए घोषणा कर दे, तो इसे सभी देशों की जनता पसन्द करेगी, पर जरूरी यह है कि इस का तुरन्त अधिक से अधिक पालन किया जाय, क्योंकि तभी लोगों को यह विश्वास होगा कि यह घोषणा पूरी करने के लिए ही की गई है। किसी भी घोषणा की कसौटी यही है कि उसे पूरा किया जाय। ऐसा करने से मौजूदा काम सुधरेंगे और भविष्य के लिए उनका निर्माण होगा। यूरोप में जो युद्ध शुरू हुआ है उससे भीषणता बढ़ने की बहुत सम्भावना है, पर इधर कई बरसों में एबीसीनिया, स्पेन और चीन में जो युद्ध हुए हैं उनमें बहुत आदमी मारे गये हैं, हवाई जहाजों के जरिये खुले नगरों पर बम-वर्षा करने से बहुतेरे बेगुनाह नर-नारी और बच्चे मरे हैं, इन युद्धों के वर्षों में मनुष्यों का खूब संहार हुआ है, भीषणता और हिंसा बराबर बढ़ रही है और अगर यह भीषणता न रोकी गई तो भूतकाल की मूल्यवान् सभी चीजें नष्ट हो जायँगी। इस भीषणता को यूरोप और चीन में रोकना है, पर उसका तबतक अन्त न होगा, जब-तक कि फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद का अन्त न किया जायगा।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वर्किंग कमेटी सहयोग देने के लिए तैयार है, पर अगर यह युद्ध भी साम्राज्यवाद की भावना से लड़ा गया तो यह एक बड़ा भयानक दुःखद काण्ड होगा। वर्किंग कमेटी यह

ऐलान करना चाहती है कि हिन्दुस्तान की जनता की जर्मन प्रजा या जापानी प्रजा से कोई लड़ाई नहीं है या दूसरे किसी भी देश की प्रजा से कोई लड़ाई नहीं है, पर भारतीय जनता की उस शासन-पद्धति से गहरी लड़ाई है जो आजादी नहीं देती और जिसका आधार हिंसा और आक्रमण करना है। हिन्दुस्तान यह नहीं चाहता कि किसी देश की विजय दूसरे देश पर हो, बल्कि सच्चे लोकतन्त्रवाद की विजय हो, जो सब देश की जनता की विजय है और फिर संसार हिंसा तथा साम्राज्यवाद के दमन से मुक्त हो जाय।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी भारत की जनता से अपील करती है कि इस संकट-काल में वह भीतरी झगड़े दूर कर दे और निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए संसार की महान् व्यापक स्वतन्त्रता में भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तत्पर रहे।

: ३५ :

किस रास्ते और किन साधनों से

बड़ी-बड़ी घटनाओं के किनारे पर हम फिर खड़े हुए हैं। हमारी नाड़ियाँ फिर जोर से फड़कने लगी हैं, पैर कांपते हैं और पुरानी पुकार हमारे कानों में आ रही है। अपनी मामूली मुसीबतों को हम भूल जाते हैं और घरेलू चिन्ताओं को एक ओर डाल देते हैं। आखिर उनका मूल्य है ही क्या ? पुकार आती है और हम सब कुछ भूल जाते हैं। भारत, जिसे हमने प्रेम किया है और जिसकी सेवा हमने करनी चाही है, वह धीमे से कुछ कहता है और जादू का मन्त्र हम तुच्छ प्राणियों के ऊपर फूंक देता है।

पर कुछ व्यक्ति उतावले हैं और अपनी जवानी की तरंग में आरोप लगाते हैं—'यह देरी क्यों ? हमारी नसों में जब खून दौड़ता है और जीवन पुकार कर कहता है कि आगे बढ़ो, तब हम मन्द गति से क्यों चलते हैं ?' ओ भारत के युवको और युवतियो ! आप परेशान न हों; झुंझलाने या उतावले बनने की भी जरूरत नहीं है। जल्दी ही वक्त आयगा जब इस भारी बोझे में आपको सहारा देना होगा। आगे बढ़ने की पुकार भी आयगी और गति भी, जितना आप सोचते हैं, उससे तेज होगी। क्योंकि अज्ञात भविष्य की ओर बेतहाशा दौड़ लगाकर दुनिया ने आज गति पैदा कर ली है और हममें से कोई भी खड़ा नहीं रह सकता—चाहे खड़ा रहना चाहे या न चाहे—जब कि हमारे पैरों तले की धरती ही हिल रही है।

समय आयगा। तब वह हमें तैयार पाये; दिल से मजबूत, शरीर से गतिशील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी जिस पर हमें चलना है, हम अच्छी तरह पहचानें जिससे सन्देहों के हमले हम पर न हों और

विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमजोर न करे।

अपने मंजिले-मकसूद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने है। उन पर बहस करने की जरूरत नहीं है। लेकिन हमारी राह क्या है जो हमें चलनी है? कौन से तरीके हमें बरतने हैं, और कौन से उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं? ये बातें भी, निश्चय ही, बहस के लिए नहीं हैं। बरसों पहले ही हमने वह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है जिससे दूसरे उस खुले रास्ते पर चल सकें। बीस बरस पहले बहुत-से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर संदेह किया होगा, लेकिन आज मार्ग-दर्शन के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलता और असफलतायें हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के बावजूद भी हम दृढ़ निश्चय के साथ उस पर अड़े हुए हैं, और भारत के लाखों व्यक्तियों ने उस रास्ते के महत्व को समझा है और अब वे उस पर इतने पाबन्द हैं कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाये जा रही है; क्योंकि उसके लिए तो दूसरा मार्ग है ही नहीं।

पर फिर भी आवश्यक है कि चीजों को अधिक मानकर हम न चलें और इस नाजुक घड़ी में नये सिरे से उस मार्ग के फलितार्थों की जांच करें और पूरे दिल से और मन से उन्हें स्वीकार करें। समय अब सिद्धान्तों या बेकार के खयाली पुलाव बनाने का नहीं है। आवश्यकता काम की है और काम के लिए मन और प्रयत्न की संलग्नता चाहिए। सन्देह की फिलासफी या बहस-मुबाहिसे की आरामदेही की उसमें इजाजत नहीं है। उससे भी कम इजाजत है उन व्यक्तियों या दलों की कि वे अपनी विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ़ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।

यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर खुलकर विचार करें और स्पष्ट और अन्तिम निर्णयों पर आवें, क्योंकि एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभव में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा

बोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खुले तौर पर या छिपकर और हमारी ही संस्था की आड़ से हमारे तौर-तरीकों और सिद्धांतों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं। हो सकता है जैसा कि हमें अच्छी तरह से विश्वास है कि ये सन्देह करने वाले और विरोधी लोग कम ही हैं और इस बड़े देश-व्यापी आन्दोलन का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, लेकिन यह सम्भव है कि बहुत से लोगों के दिमागों में वे गड़बड़ पैदा कर दें और ऐसी घटनायें घटादें जिससे हमारे ध्येय को हानि पहुँचे। अतः ध्येय की स्पष्टता और निर्णय का होना जरूरी है। और जो हलचल हमारे सामने है, उसमें अनावश्यक खतरा हम नहीं ले सकते।

उन्नीस बरस पहले कांग्रेस ने अपने कामों में अहिंसा का तरीका ग्रहण किया था। इन गुजरे सालों में बहुत से अवसरों पर हमने अहिंसा के प्रयोग भी किये हैं। इनसे हमने संसार को प्रभावित किया और उससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि हमने अपने-आपको प्रभावित किया और जो कुछ हमने किया या जिस प्रकार हमने वह किया उससे हमने अपूर्व शक्ति पाई। परतन्त्र राष्ट्र का पुराना मार्ग—या तो गुलामी या हिंसक विद्रोह—अब हमारे लिए नहीं है। हमारे पास अब एक शक्तिशाली हथियार है जिसका मूल्य—हमारी बढ़ती शक्ति और उसके बारे में समझ बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसका प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है; लेकिन भारत की योग्यता तथा वर्तमान स्थिति में वह विशेष रूप से उपयुक्त है। हमारा निज का उदाहरण है जो उसका समर्थन करता है, और जो हमें दिलासा और उत्साह प्रदान करता है। लेकिन पिछले वर्षों की विश्व की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि हिंसक तरीके बेकार हैं और वहशियाना हैं।

मेरे खयाल से हम में से कुछ ही कह सकते हैं कि हिंसा का युग समाप्त हो गया या जल्दी ही उसके समाप्त होने की सम्भावना है। आज हिंसा अपने बहुत ही गहन, विध्वंसकारी और अमानवीय रूप में बढ़ रही है। उतनी वह पहले कभी नहीं बढ़ी। लेकिन उसकी तेजी ही उसके पतन

का चिह्न है। वह या तो स्वयं समाप्त होगी या संसार के बहुत बड़े भाग को समाप्त कर देगी।

"तलवार हमेशा की तरह मूर्खों के लिए अपनी मूर्खता छिपाने का एक साधन है।"

लेकिन हम मूर्खता और पागलपन के युग में रहते हैं और हमारे शासक और मानवी सम्बन्धों को देखने-भालने वाले इसी युग की असली उपज हैं। हर रोज हमारे सामने यही खूंखार समस्या है—हिंसक आक्रमण का मुकाबिला कैसे किया जाय ? क्योंकि इसके अतिरिक्त बहुधा और कोई मार्ग नहीं है कि बुराई के आगे चुपचाप झुक जाओ और उसके हाथ में अपने को सौंप दो। स्पेन ने बलपूर्वक हिंसक आक्रमण का विरोध किया और यद्यपि अन्त में उसकी पराजय हुई, लेकिन उसके लोगों ने साहस और वीरता-पूर्ण धैर्य का शानदार उदाहरण उपस्थित कर दिया। मित्रों ने उनका साथ छोड़ दिया, फिर भी ढाई बरस तक फासिस्ट आक्रमण की बाढ़ को उन्होंने रोके रखा। उनकी हार के बाद आज भी कौन कहेगा कि वे गलती पर थे, क्योंकि उनके लिए दूसरा सम्मान-पूर्ण मार्ग खुला हुआ नहीं था। अहिंसात्मक तरीका उनके दिमाग में नहीं था और वैसे भी उन परिस्थितियों में वह उनकी पहुंच के बाहर था। यही चीन में हुआ।

चेकोस्लोवेकिया अपनी सशस्त्र शक्ति और असंदिग्ध साहस के बावजूद भी बिना लड़े पराजित हो गया। ठीक है, पराजय उसकी हुई; क्योंकि उसके मित्रों ने उसके साथ विश्वासघात किया, लेकिन फिर भी सचाई तो यह है कि उसकी तमाम सशस्त्र शक्ति उसकी आवश्यकता के समय कारगर साबित नहीं हुई। पोलैण्ड तीन सप्ताह की हलचल में एकदम समाप्त हो गया और उसकी भारी फौज और हवाई जहाजों के बेड़े न जाने कहां विलीन हो गये।

हिंसक मार्ग और सशस्त्र शक्ति आज तात्कालिक सफलता के संकुचित-से-संकुचित अर्थ में तभी संभव है जब कि सशस्त्र शक्ति अपने विरोधी से अधिक बलवती हो। अन्यथा बिना युद्ध के समर्पण कर दिया जाता है या जरा-सी हलचल के बाद ही पतन हो जाता है और साथ आती है घोर

पराजय और अनैतिकता। साधारण हिंसा को एकदम त्याग दिया गया है, क्योंकि विजय की कोई संभावना भी उनसे नहीं होती और इससे पराजय और फूट का भय फैल जाता है।

भविष्य में भारत का क्या होगा, यह हमारे अन्दाज से बाहर है। यदि भविष्य में सशस्त्र राष्ट्रीय शक्ति की आवश्यकता रहती है, तो हममें से अधिकांश के लिए यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि बिना राष्ट्रीय फौज और 'बचाव के अन्य साधनों के' भारत स्वतन्त्र होगा। लेकिन वैसे भविष्य पर विचार करने की हमें आवश्यकता नहीं है। हमें तो बस वर्तमान पर विचार करना है।

इस वर्तमान में सन्देह और कठिनाइयां नहीं उठतीं; क्योंकि हमारा कर्तव्य स्पष्ट है और मार्ग निश्चित है। वह मार्ग भारतीय स्वाधीनता की समस्त रुकावटों का निष्क्रिय प्रतिरोध करना है। उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। इसके बारे में हमें बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए; क्योंकि विभिन्न दिशाओं में मन के खिंचते रहने की दशा में कोई काम शुरू करने का साहस हमें नहीं करना चाहिए। ऐसा कोई दूसरा मार्ग है, जो हमें प्रभावशाली कार्य के अवसर की छाया-मात्र भी दे सकता है, मैं नहीं जानता। वास्तव में अगर हम दूसरे मार्गों के बारे में सोचते हैं तो वास्तविक कार्य हो ही नहीं सकता।

मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न पर अधिकतर कांग्रेसजन एकमत हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो कांग्रेस के लिए नये हैं। वे दिखाने के लिए तो एकमत हैं; लेकिन करते दूसरी तरह से हैं। वे अनुभव करते हैं कि कोई राष्ट्रीय या देश-व्यापी आन्दोलन उस समय तक नहीं चल सकता जबतक कि कांग्रेस द्वारा वह न चलाया जाय। उसे छोड़ कर और जो कुछ होगा वह तो दुस्साहस होगा। इसलिए वे चाहते हैं कि कांग्रेस से पूरा लाभ उठावें और साथ ही उन दिशाओं में भी चले जावें जो कांग्रेस की नीति के विरुद्ध हैं। उनका प्रस्तावित सिद्धान्त तो यह है कि वे कांग्रेस में अपने को मिलाये रहें और फिर उसके बुनियादी धर्म

और कार्य-प्रणाली को हानि पहुँचावें, विशेष कर अहिंसा के सिद्धान्त के अमल को रोका जाय, बाहर से और प्रकट रूप में नहीं; बल्कि धोखेबाजी से औ अन्दर से।

अब प्रत्येक भारतीय को स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रस्तावों और विचारों को आगे लाकर रखे, उनके लिए काम करे और अपने दृष्टिकोण पर दूसरों को राज़ी करे। उनके अनुसार वह आचरण भी करे, यदि वह सोचता है कि वैसा करना आवश्यक है। लेकिन दूसरी किसी चीज की आड़ में ऐसा करने की उसे स्वतन्त्रता नहीं। वह जनता को गलत रास्ते ले जाना होगा। और ऐसे धोखे से जन-आन्दोलन नहीं उठ खड़े होते। कांग्रेस के प्रति वह नमकहरामी होगी और अनुचित समय में आन्दोलन से नाजायज फ़ायदा उठाना होगा। यदि विचारों का कोई विरोध है तो इसमें भलाई ही है कि वह सामने आये और लोग उसे समझें और अपना निर्णय करें। किसी भी समय ऐसा होना चाहिए, विशेषकर बड़ी घटनाओं के प्रारम्भ होने से पहले। कोई भी संस्था आंतरिक विघ्न-बाधाओं को बरदाश्त नहीं कर सकती जबकि वह शक्तिशाली दुश्मन से मुठभेड़ करने की परिभाषा में सोचती है। अपनी जनता में उस समय अनुशासनहीनता वा मत-भेद ठीक नहीं है जब कि समय ऐसा है कि हम सबको काम में लग जाना चाहिए।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्ण स्पष्टता और निश्चय के साथ हम इस मामले को तय करें। जहां तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, बेशक हमने तय कर लिया है और उस निर्णय पर हम दृढ़ रहेंगे। दूसरा कोई भी मार्ग प्रभावशाली नहीं है और उसमें राष्ट्र के लिए खतरा है।

यदि हम वैसा विचार करें तो भारत में गड़बड़ मचा देना हमारे लिए कठिन नहीं है; लेकिन गड़बड़ में से जरूरी तौर पर या आम तौर पर भी स्वाधीनता नहीं निकलती। भारत में गड़बड़ की स्पष्ट सम्भावनायें हैं जिनका फल अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण निकलेगा। हम हमेशा

अपने काम के परिणामों के बारे में भविष्यवाणी नहीं कर सकते, विशेषकर उस हालत में जब हम जनता के बल पर उस काम को करते हैं। खतरे हम उठाते हैं, और उठाने ही चाहिए। लेकिन ऐसा कुछ करना तो अकल्पनीय मूर्खता होगी जो उन खतरों को बहुत बढ़ा दे और हमारी स्वतन्त्रता के मार्ग में रोक लगादे और हमारे आन्दोलन में से उस नैतिकता को ही उड़ा ले जिस पर कि इतने बरसों से हमें गर्व रहा है। ऐसी दशा में जब कि संसार हिंसक तरीकों से चूर-चूर हो रहा है, हमारे लिए उन्हें ग्रहण करने की बात सोचना तक एक भारी दुख की बात होगी।

इसलिए मजबूती और निश्चय के साथ हम अहिंसा पर दृढ़ रहें और उसके स्थान पर कुछ भी मिले, उसे अस्वीकार कर दें। हमें याद रखना चाहिए कि यह सम्भव नहीं है कि विभिन्न तरीके साथ-साथ चालू रह सकें; क्योंकि ये एक-दूसरे को कमजोर करते हैं और एक ओर हटा देते हैं। इसलिए होशियारी के साथ हम अपना मार्ग चुनें और उस पर दृढ़ रहें। अन्य मार्गों के साथ खिलवाड़ करके उसे बिगाड़ें नहीं। सबसे अधिक हम यह अनुभव करें कि अहिंसा अहिंसा है। यह एक ऐसा शब्द-मात्र नहीं है कि मन के दूसरी तरह काम करने पर भी उसे मशीन की तरह इस्तेमाल किया जा सके, मुँह से दूसरे शब्द और वाक्य निकलते हों जो उसके विरोधी हों, और हमारे काम के विपरीत हों। यदि हमें अहिंसा तथा अपने और अपने ध्येय के प्रति ईमानदार रहना है तो हमें अहिंसा के प्रति सच्चा रहना होगा।

: ३६ :

किसानों का संगठन

भलाई के पक्ष में अपना 'संगठन' दिखाने के लिए दूर-दूर से यहां आने में आपने जो दिलचस्पी दिखाई है, उसकी मैं तारीफ करता हूँ। आज के दिन प्रान्त के विभिन्न केन्द्रों में सैकड़ों सभायें ब्रिटिश सरकार को आपका संगठन दिखाने के लिए हो रही हैं। सभाओं के पीछे यह भी आग्रह है कि हक-आराजी-बिल को गवर्नर और गवर्नर-जनरल की रजामन्दी से बिना अनावश्यक विलम्ब के पास करके कानून बना दिया जाय। आपको और कांग्रेस को मिलकर अभी बहुत कुछ करना है और आपको उन घटनाओं पर भी निगाह रखनी है जो घटित हो सकती हैं और जो आपके संयुक्त कार्य को पूरा करने के लिए मार्ग निश्चित कर सकती हैं। कांग्रेस जो कहे, उस पर आप आंख बन्द करके चलें—जैसे कि वह आपके लिए आज्ञा हो,—बल्कि कांग्रेस की सब आज्ञाओं की ऊँच-नीच को आप खुद समझें और तब उन पर अकलमंदी और मेल की भावना से चलें।

कांग्रेस पंचायत—कार्यसमिति—ने देश और देशवासियों के, जिनमें आप भी शामिल हैं, पक्ष में रोज-बरोज उठने वाले सब मसलों पर विचार किया है। इस कांग्रेस पंचायत ने जो निर्णय किया है उस पर प्रान्तीय-कांग्रेस कमेटियों से लेकर ग्राम, मण्डल कांग्रेस कमेटियों तक, जिनके बिना इतनी बड़ी और शक्तिशाली कांग्रेस संस्था अच्छी तरह से योग्यता के साथ काम नहीं कर सकेगी, सभी मातहत कमेटियों को विचार करना चाहिए और अनुशासन-नियमानुकूलता के साथ उस पर चलना चाहिए।

---

१ किसान-दिवस पर प्रयाग में दिया गया भाषण।

आपको वैसा ही अनुशासन रखना चाहिए और एकता, शक्ति और सफलता का निश्चय कर लेना चाहिए।

हक-आराजी-बिल पास हो गया है और मुझे इसमें शुबह नहीं है कि गवर्नर और गवर्नर-जनरल की रजामन्दी भी थोड़े वक्त में आ जायगी। लेकिन गवर्नरों के दस्तखतों से ही सब कुछ नहीं हो जायगा। अगर आपने अपना संगठन न किया और अपने को शक्तिशाली न बनाया तो जमींदार नये नियमों को फाड़-फूड़ कर फेंक देंगे।

आपको हक-आराजी-बिल से अपने अधिकारों का सिर्फ कुछ हिस्सा ही मिलेगा। सोलहों आना अपने अधिकार पाने के लिये तो आपको बहुत काम करना पड़ेगा। पहला और सबसे खास काम आपका 'संगठन' है।

आपको यह भी जानना चाहिए कि दुनिया में क्या हो रहा है। भूचालों की तरह दुनिया में घटनायें घटित हो रही हैं। लड़ाई और क्रांतियां भूचालों जैसी ही तो हैं। आप यह जानते होंगे कि पच्चीस बरस पहले जैसी बड़ी लड़ाई छिड़ी थी वैसे ही लड़ाई इंग्लैंड और जर्मनी के बीच छिड़ी है। पिछले महायुद्ध में हमारे बहुत से देशवासी मरे, लेकिन देश के लिए हमें आजादी नहीं मिली। हम से कहा गया है कि इस लड़ाई में भी हम ब्रिटेन की मदद करें। कांग्रेस ने विचार किया कि इस बारे में वह क्या करे, आया लड़ाई में हिस्सा ले या नहीं। सवाल था कि अगर हमें आजादी नहीं मिलती है तो हम उसमें हिस्सा क्यों लें। अगर लड़ाई साम्राज्यवाद की ही जड़ मजबूत करने के लिए है तो हमें उसमें हिस्सा नहीं लेना चाहिए। हमारी बिना सलाह लिये ब्रिटिश सरकार ने हमें इस युद्ध में सान लिया है। यह एक भारी गलती है। कांग्रेस-कार्य-समिति ने इस सारे मसले पर गम्भीरता के साथ विचार किया; क्योंकि उससे हमारे देश की करोड़ों जानों का सम्बन्ध है। शायद आप पूरी तरह से जानते हैं कि किन-किन बातों पर कार्य-समिति ने इस सम्बन्ध में विचार किया है।

इंग्लैंड ने कहा कि वह दूसरे देशों को, जिनमें से कुछ को जर्मनी

ने पहले ही जीत लिया है, आजादी के लिए लड़ रहा है। जर्मनी से हमारी कोई लड़ाई नहीं है; लेकिन हमें उन देशों की आजादी की चिंता है जो कि आजादी से वंचित कर दिये गए हैं। चूंकि हम भी ब्रिटेन द्वारा शासित हैं, इसलिए हमारे लिए भी आजादी उतनी ही जरूरी है जितनी दूसरे देशों के लिए। इसलिए ब्रिटेन को हमसे लड़ने के लिए तभी कहना चाहिए जबकि वह गुलामी से हमारे देश को आजाद कर दे। उसकी गुलामी में रह कर अगर हम उसका साथ देते हैं तो इसका मतलब होता है कि हम अपनी ही आजादी के खिलाफ लड़ते हैं। इसी सबब से कांग्रेस ने ब्रिटेन से कहा है कि वह घोषणा कर दे कि इस लड़ाई में उसके उद्देश्य और सिद्धांत क्या हैं। हम चाहते हैं कि वह न सिर्फ हमारी आजादी की घोषणा करे, बल्कि उस पर अमल करके उसे पूरा भी करे।

ब्रिटिश सरकार ऐसा इस तरह कर सकती है कि वह हिन्दुस्तानियों की एक सच्ची प्रातिनिधिक संस्था बनाए जो हिन्दुस्तान के शासन की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले ले। अपनी इस हाल की माँग का कांग्रेस को अभी कोई जवाब नहीं मिला है। उम्मीद की जा सकती है कि दो-तीन सप्ताह में जवाब आ जायगा। लेकिन कोई नहीं कह सकता कि किस तरह का जवाब आयगा। जबतक जवाब नहीं आता, तब तक मौजूदा लड़ाई के सम्बन्ध में वह क्या करे, इस बात के निर्णय को स्थापित करने के अतिरिक्त कांग्रेस के पास और कोई उपाय ही नहीं है। न इधर न उधर, वह कुछ भी तय नहीं कर सकती। कांग्रेस की मदद का उस समय तक निश्चय नहीं जब तक यह पता नहीं चल जाता कि हिन्दुस्तान की स्थिति इस वक्त क्या है।

युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने की मांग जो कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से की है, उसे दुनिया के बहुत से देशों ने पसन्द किया है।

बहरहाल, हमें आगे होनेवाले सभी परिवर्तनों के लिए तैयार रहना चाहिए। किसान भी उनके लिए तैयार रहें। इसके लिए संगठन आवश्यक है।

अपने आपसी मतभेदों को बनाये रखकर तो हम शत्रु की मदद ही करेंगे। जहाँ तक राष्ट्रीयता का सम्बन्ध है, हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई अंतर ही नहीं होना चाहिए। मसलन हक-आराजी-बिल हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए फायदेमन्द है। कांग्रेस तो हमेशा उन मसलों के लिए लड़ती रही है जो बिना जात-जमात के खयाल के समूचे राष्ट्र के लिए फायदेमन्द हैं।

: ३७ :

बड़े और घरेलू उद्योग

निजी तौर पर मैं बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास में विश्वास करता हूँ, फिर भी खादी-आन्दोलन और बड़े ग्रामोद्योग-संगठन का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से मैंने समर्थन किया है। मेरे विचार से इन दोनों में कोई आवश्यक संघर्ष नहीं है। यों कभी-कभी दोनों के विकास में और कुछ पहलुओं पर संघर्ष हो सकता है। इस मामले में मैं बड़ी हदतक गांधीजी के दृष्टि-बिन्दु का प्रतिनिधित्व नहीं करता; लेकिन व्यवहार में अबतक हम दोनों के दृष्टि-बिन्दुओं में कभी कोई मार्के का संघर्ष नहीं हुआ।

यह मुझे साफ दीखता है कि कुछ मुख्य और महत्वपूर्ण उद्योग हैं जैसे रक्षा उद्योग और जनसाधारण की भलाई के काम। ये बड़े पैमाने पर होने चाहिए। कुछ दूसरे उद्योग हैं, वे चाहे बड़े पैमाने पर हों या छोटे या घरेलू पैमाने पर। घरेलू पैमाने पर उद्योग होने के बारे में मतभेद हो सकता है। इस भेद-भावके पीछे दृष्टिबिन्दु और सिद्धान्त का अन्तर है और मि० कुमारप्पा को जिस प्रकार मैं समझा हूँ, उन्होंने भी इसी दृष्टिबिंदु के अंतर पर जोर दिया था। उनका कहना था कि वर्तमान बड़े पैमाने की पूंजीवादी प्रणाली वितरण की समस्या को दरगुजर करती है और उनका आधार हिंसा पर है। इसके साथ मैं पूर्णतया सहमत हूँ। उनका सुझाव यह था कि घरेलू उद्योगों के बढ़ने में वितरण अच्छी प्रकार से होता है और उसमें हिंसा का तत्व भी बहुत कम होता है। इसके साथ भी मैं सहमत हूँ, लेकिन इसमें अधिक सचाई नहीं है। वर्तमान आर्थिक ढाँचा तो हिंसा और एकाधिकार पैदा करता है और सम्पत्ति को कुछ लोगों के हाथों में संचित कर देता है। बड़े उद्योग से अन्याय और हिंसा नहीं

आती; बल्कि प्राइवेट पूंजीवादी और फाइनेंशियर उनके दुरुपयोग से ऐसा करते हैं। यह सच है कि बड़ी मशीनें आदमी की निर्माण और विनाश की शक्ति बहुत बढ़ा देती हैं; और उनसे आदमी की भलाई और बुराई की शक्ति भी बहुत बढ़ती है। मेरे खयाल से पूंजीवाद के आर्थिक ढांचे को बदल कर बड़ी मशीनों के दुरुपयोग और हिंसा को दूर करना संभव है। जरूरी तौर पर निजी स्वामित्व और समाज के लाभ के इच्छुक रूप से ही प्रतिस्पर्धात्मक हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवादी समाज से यह बुराई दूर हो सकती है और साथ ही बड़ी मशीनों से होने वाली अच्छाई भी हमें मिल सकती है।

मेरे खयाल से यह सच है कि बड़े उद्योग और बड़ी मशीन में कुछ स्वाभाविक खतरे होते हैं। उसमें शक्ति-संचय की प्रवृत्ति होती है। मुझे यकीन नहीं है कि उसे एकदम दूर किया जा सकता है; लेकिन मैं किसी भी ऐसी दुनिया या प्रगतिशील देश की कल्पना नहीं कर सकता जो बड़ी मशीन का परित्याग कर सकता है। यदि यह संभव भी हुआ तो उसके परिणामस्वरूप पैदावार बहुत कम हो जायगी और इस प्रकार उससे जीवन की रहन-सहन का माप भी बहुत गिर जायगा। यदि कोई देश उद्योगीकरण को छोड़ देने की कोशिश करता है तो नतीजा यह होगा कि वह देश आर्थिक तथा अन्य रूपों में उन दूसरे देशों का शिकार हो जायगा जिनका कि अधिक उद्योगीकरण हो चुका है। घरेलू उद्योगों के व्यापक पैमाने पर विकास के लिए स्पष्ट रूप से राजनीतिक और आर्थिक सत्ता की आवश्यकता है। यह मुमकिन नहीं है कि एक देश जो घरेलू उद्योगों में पूरी तरह से लगा हुआ है वह इस राजनीति या आर्थिक सत्ता को कभी भी पा सकेगा और इसलिए वह उन घरेलू उद्योगों को भी आगे न बढ़ा सकेगा जिनको कि वह आगे बढ़ाना चाहता है।

इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि बड़ी मशीनों के उपयोग और विकास को प्रोत्साहन देना और इस तरह हिन्दुस्तान का उद्योगीकरण करना जरूरी और मुनासिब है। साथ ही मुझे यकीन है कि इस तरीके

से कितना ही उद्योगीकरण क्यों न हो, उससे हिन्दुस्तान में बड़े पैमाने पर घरेलू उद्योग के विकास की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता---घरेलू उद्योग अवकाश के समय के पूरक धन्धे के रूप में नहीं; बल्कि स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में। मैं नहीं जानता कि आने वाली एक या दो पीढ़ियों के अर्से में विज्ञान क्या-क्या कर डालेगा, लेकिन जहां तक मैं देख सकता हूँ, घरेलू उद्योग, बड़े उद्योगों के अतिरिक्त जिनको कि हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया जायगा, हिन्दुस्तान के लिए जरूरी रहेंगे। इसलिए समस्या यह रह जाती है कि इन दोनों का मेल कैसे हो ? यह सरकार द्वारा आयोजन का प्रश्न है। मौजूदा अराजक पूंजीवादी प्रणाली के होते हुए इसे सफलतापूर्वक नहीं सुलझाया जा सकता।

इस विषय पर अपने विचार संक्षेप में समझाने की मैंने कोशिश की लेकिन यह तो मैं महसूस करता ही हूँ कि घरेलू उद्योगों के प्रतिपादकों के साथ, उनके आधारमूलक दृष्टि-बिन्दु को स्वीकार न कर सकते हुए भी, मैं पूरी तरह से सहयोग कर सकता हूँ।

दुर्भाग्य से इस समय हम एक समाजवादी सरकार के साथ व्यवहार नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक संक्रांति अवस्था में होकर गुजर रहे हैं, जबकि पूंजीवादी-प्रथा का विस्फोट हो रहा है। इससे बहुत-सी कठिनइयां उठ खड़ी होती हैं। हर हालत में यह तो स्पष्ट है कि आज भी जो सिद्धांत लागू किये जायेंगे, वे वही होने चाहिए जिनका निर्माण कांग्रेस ने किया है। याने मुख्य उद्योग, सर्विसें और यातायात इत्यादि पर राज्य का स्वामित्व हो या वे उनके दियंत्रण में हों। यदि 'मुख्य उद्योगों, में सभी प्रमुख उद्योग शामिल हैं तब तो बहुत बड़े अंश में समाजीकरण होगा। अपनी नीति के आवश्यक परिणाम के स्वरूप में मैं तो यह भी कहूँगा कि जहां कहीं बड़े उद्योग---जो किसी की निजी सम्पत्ति हैं---और घरेलू उद्योग के बीच कोई संघर्ष है, वहां राज्य को उस बड़े उद्योग को अपनी सम्पत्ति बना लेना चाहिए या उसे अपने नियंत्रण में कर लेना चाहिए। उस दशा में राज्य को अपनी बनाई किसी भी नीति को ग्रहण करने का अधिकार

और आजादी है और वह बड़े और घरेलू दोनों प्रकार के उद्योगों में मेल करा सकती है।

अपने पिछले बीस बरस के कांग्रेस की नीति के काफी अनुभव से मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उद्योग हिन्दुस्तान के लिए बड़े आर्थिक और सामाजिक लाभ के रहे हैं। यह बिलकुल सच है कि कांग्रेस यह मान कर चली कि बड़े उद्योग तो इतने समर्थ हैं ही कि अपनी देखभाल खुद कर लें, और इसलिए अधिक ध्यान घरेलू उद्योगों की तरफ देना चाहिए। हम तो गैर-सरकारी संस्थायें और राज्य का आर्थिक ढांचा हमारे काबू से एकदम बाहर था। ऐसी परिस्थितियों के बीच बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने का मतलब था निज स्थापित स्वार्थों, अक्सर विदेशी स्थापित स्वार्थों, को प्रोत्साहन देना। लेकिन हमारा तो ध्येय था कि हिन्दुस्तान की मनुष्य-शक्ति का और बहुत-से लोगों के समय का, जिसका कि अपव्यय हो रहा था, सदुपयोग करके न सिर्फ पैदावार को ही बढ़ाया जाय, बल्कि हिन्दुस्तान की जनता में आत्म निर्भरता पैदा की जाय। इसमें कांग्रेस को बहुत सफलता मिली।

इस विषय पर हवाई शुद्ध सिद्धान्त के रूप में विचार नहीं किया जा सकता; बल्कि देश की मौजूदा स्थितियों और जीवन की घटनाओं के संबंध में उनपर विचार होना चाहिए। मानवी साधनों को हम दरगुजर नहीं कर सकते। आज चीन में घरेलू उद्योगों की तरफ कोई विशेष झुकाव नहीं है। लेकिन स्थितियों के दबाव से चीनियों को बहुत तेजी के साथ अपने ग्रामोद्योग और सहकारी धंधे बढ़ाने पड़े हैं। हमारे ग्रामोद्योग-आन्दोलन में चीन की बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी और मुझ से कहा गया था कि उद्योगों के अपने विशेषज्ञों को मैं चीन भेजूँ। यह संभव है कि कुछ चीनी विशेषज्ञ हमारे ग्रामोद्योगों के तरीकों का अध्ययन करने के लिए हिन्दुस्तान आवें।

: ३८ :

चर्खे का महत्व

हम सत्याग्रह के सिलसिले में जब सोचते हैं तब हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। इस प्रस्ताव पर हमें अमल करना चाहिए।

मैं चर्खे के खिलाफ और पक्ष में बहुत कुछ कह सकता हूँ। चर्खे ने काफी फायदे पहुँचाये हैं। लेकिन चर्खे को मैं कोई मंत्र नहीं मानता। चर्खा एक औजार है, जो हमारे लिए लाभदायी है। दूसरे भी हजार औजार हमें चलाने हैं। महात्माजी चर्खे के बारे में किस्म-किस्म की बातें करते हैं जो मेरी समझ में नहीं आतीं। पर जितना समझ में आता है उतने का ही उपयोग किया जाय तो बहुत काफी है।

एक बात और बता दूं। मैं अच्छा कातना जानता हूँ और मेरा दावा है कि किसी को भी चार दिन में चर्खा कातना सिखा दूंगा। लेकिन पिछले तीन-चार वर्ष मैंने नहीं काता है। पर एक अजीब बात है कि चीन से जब मैं आया तब पहला काम मैंने अपने पुराने चर्खे को देखने का किया। उस समय इस प्रस्ताव का खयाल नहीं था, पर जेल जाने के वास्ते मैं चर्खे को तैयार करना चहाता था। जब पुराने चर्खों से मुझे संतोष नहीं हुआ तो मैंने एक नया चर्खा भी खरीद लिया।

चर्खे के दो पहलू हैं। (१) इसके कातने से क्या लाभ हैं। (२) लड़ाई के सिलसिले में यह क्या असर रखता है? मैं चर्खे का अंध-भक्त नहीं हूँ, परन्तु इसमें फायदा मैंने देखा है। इसमें राजकीय असर है। चीन में हर जगह चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में सवाल हुआ। मैं यह देखकर हैरान हो गया कि कोई जगह ऐसी नहीं, जहां मुझ से यह नहीं पूछा गया कि हिन्दुस्तान में चर्खे और ग्रामोद्योग के बारे में क्या हो रहा है? चीनवालों के सामने कोई अहिंसा का सवाल नहीं है, न बड़े-बड़े

कारखानों से परहेज करने का। परन्तु वहाँ के वाकयात ऐसे हैं जिनसे चीन के गांव-के-गांव को इसमें दिलचस्पी है। वहाँ जापान से लड़ाई चल रही है और घनी आबादी है। चीन के लोग महसूस कर रहे हैं कि इस लड़ाई के हमले से भी ज्यादा खतरनाक जापान का आर्थिक आक्रमण है। जापान वाले अपनी आर्थिक नीति चलाने के लिए बड़ा ही जोर लगा रहे हैं और चीनवाले समझते हैं कि इसमें अगर वे सफल हुए तो हमारी बड़ी बरबादी होगी। इसलिए वे लोग हर किस्म के ग्रामोद्योगों को बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। इस वक्त वे चाहें तो भी कारखाने खड़े नहीं कर सकते। कारखाने किसी समय भी बम के शिकार हो सकते हैं, पर घर-घर चलनेवाले चर्खे पर फौज आक्रमण नहीं कर सकती। फौज भी आगई तो किसान सरक जायंगे और चर्खा बगल में लेते जायंगे। इस तरह रोजमर्रा के जीवन के लिए ग्रामोद्योग वहां आवश्यक हो गये हैं। चीन का सवाल वैसा ही है जैसा हमारा है। वहां घनी आबादी है। हम पेचीदा सवालों को पढ़ते ही नहीं। रूस की बड़ी-बड़ी बातें पढ़ते हैं। जब सुनते हैं कि वहां ट्रैक्टर से खेती हो रही है तब हम भी वैसा ही करना चाहते हैं। मेरी भी इच्छा है कि हमारे यहां फोर्ड के ट्रैक्टर काम करें और खेती की तरक्की हो। लेकिन अगर आपको फोर्ड से या रूस के प्रतिनिधि से बात करने का मौका मिले तो सुनकर चकित होंगे। मुझे फोर्ड के एजेन्ट से बात करने का मौका मिला था। उसने कहा कि हमारे ट्रैक्टरों के लिए साइबेरिया जैसा कोई अनुकूल क्षेत्र नहीं है और हिन्दुस्तान जैसी कोई प्रतिकूल जगह नहीं है। साइबेरिया में मीलों जमीन खाली है और आबादी नहीं-सी है। हिन्दुस्तान में तो इतनी आबादी है कि ट्रैक्टर के लिए एक चक जमीन मिलना नामुमकिन है। बंगाल में जहाँ एक बालिश्त में चार-पांच आदमी बैठे हैं वहां ट्रैक्टर कैसे चलेंगे? हमारे यहाँ इस मशीनरी के लिए गुंजाइश नहीं है। पचास वर्ष के बाद क्या होगा, यह मैं नहीं बता सकता। दुनिया बदलती है, मैं भी बदलता हूँ, और हिन्दुस्तान में तरह-तरह के परिवर्तन चाहता हूँ, लेकिन आज जो स्थिति है उसमें सिर्फ कारखानों से

हिन्दुस्तान का सवाल हल न होगा। मैं अपने को वैज्ञानिक आदमी समझता हूँ। आप लोगों में से बहुतों का जन्म नहीं हुआ होगा तब मैंने साइंस लेकर एक डिग्री पाई है। साइंस के बिना मैं किसी चीज को सोच नहीं सकता। कोई जबरदस्ती मुझे कुछ समझाने आवे तो मेरा दिमाग उसका विरोध करता है। महात्माजी का मैं आदर करता हूँ, लेकिन भक्ति नहीं करता। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनकी बात वैसे-की-वैसे मैं आपने दिमाग में नहीं ला सकता। लेकिन मैं सिपाही के नाते उनकी बातों को समझने की कोशिश करता हूँ। मैं अदब के साथ आप लोगों से कहूँगा कि चर्खे को निकम्मा बताना वाकयात से ताल्लुक नहीं रखता। क्योंकि हम लोगों की आबादी बहुत घनी है, हमें चीज ऐसी चाहिए जो हर जगह हरेक आदमी को करने के लिए कह सकें।

दूसरा लड़ाई का पहलू है। महात्मा जी को जनरल बनाना चाहते हैं और महात्माजी का कहना है कि चर्खा ही मेरा हथियार है। पर हम महात्माजी को इस तरह रिश्वत देना नहीं चाहते। हम उनके हाथ बांध देना नहीं चाहते। आजाद रखना चाहते हैं। सवाल उठता है, इसमें क्रान्तिकारी बात क्या है? चर्खे में क्रान्तिकारी कोई चीज नहीं। क्रान्ति तो आपके दिमाग में है। अगर दिमाग में लड़ाई भरी हो तो चर्खा क्या झाड़ू भी लड़ाई का निशाना हो सकता है। अगर दिमाग में लड़ाई नहीं है तो अच्छे-से-अच्छे हथियार भी बेकार हैं। फर्ज कीजिये कि किसी वजह से अंग्रेजों ने कानून बना दिया कि हर घर में चर्खा रहे और बिना खादी के कपड़े न रहें और हमारे देश में खादी और चर्खा हो जाय तो उसमें कोई लुत्फ नहीं होगा। हां, थोड़ा-सा आर्थिक लाभ जरूर होगा, पर उससे हमारी ताकत या संगठन पैदा नहीं हो सकते। जितने संशोधन यहां आये उनमें चर्खे के स्थान पर जो बात रखी गई है उससे साफ पता चलता है कि अगर चर्खा छोड़ दें तो सिर्फ व्याख्यान देना ही लड़ाई का साधन हो जाता है। व्याख्यान से वातावरण तैयार होता है, यह मैं भी मानता हूँ। काफी जोश पैदा किया जा सकता है। पर उससे क्रान्ति

पैदा नहीं होती। अगर हो भी तो थोड़े वक्त के लिए होती है। उसकी जड़ पक्की नहीं होती तबतक उकसाया हुआ आन्दोलन खतरनाक होता है। इसलिए किसानों को कोई चीज ऐसी देनी चाहिए जो उनकी सब भावनाओं के लिए पूर्ति का काम करे।

२ दिसम्बर, १९३९।

: ३६ :

शिक्षा का ध्येय[1]

जब इस परिषद् के उद्घाटन के लिए आपका दोस्ताना निमंत्रण मेरे पास टेलीफोन पर वर्धा पहुँचा; तो मैं घड़ी भर के लिए दुविधा में पड़ गया। सिर्फ घड़ी भर ही के लिए, क्योंकि दूर की बातचीत में टेलीफोन पर कोई देर तक नहीं ठहर सकता। एक विद्वानों की मंडली ने अपने चुनीदा लोगों के सामने मुझे बुलाया है, इसमें मैंने गौरव महसूस किया। क्योंकि हालांकि विद्यालयों के लिए मैं कोई नया आदमी नहीं रहा हूँ, फिर भी बरसों से मेरा रास्ता उनसे कट गया है और वह मुझे अजनबी और धूल-भरी गलियों में ले गया है।

अक्सर मैंने उन गहरे खजानों में गोते लगाए हैं जिनमें गुजरे जमानों के खयालात, सपने और तजुरबे दबे पड़े थे। लेकिन तकदीर और स्थिति ने मिलकर साजिश की और मुझे उस सुन्दर और सुनियमित जिन्दगी से खींचकर देश के इतने अपढ़ लोगों के बीच ला पटका।

मैं बहुत से पुरुषों और स्त्रियों से मिला। उनमें से अधिकांश ने स्कूल और कालेज की शक्ल तक नहीं देखी, और न राज्य की तरफ से या निजी तौर पर की गई शिक्षा की व्यवस्था ने ही उनपर कोई असर डाला।

आपके निमंत्रण की ओर मैंने अपने को खिंचता हुआ महसूस किया। आखिर शिक्षा से बढ़कर आकर्षक और अहमियत रखनेवाली चीज आज और क्या है? लड़ाइयों में जूझती इस दुनिया में दुःख भरे हैं,

---

१. लखनऊ में अखिल भारत शिक्षा-परिषद् का उद्घाटन करते हुए २७ दिसम्बर १९३९ को दिया गया भाषण।

झगड़े हैं और हजारों समस्यायें हैं जो हमें सता रही हैं। ऐसे वक्त में मुनासिब शिक्षा के अलावा और किससे हम शान्ति पा सकते हैं और कैसे इन समस्याओं का हल निकाल सकते हैं?

इसलिए अपनी शुभाकांक्षा देने और आपकी मेहनत की तारीफ करने में आपके बीच आगया। मुझ जैसे अनाड़ी आदमी के लिए पेचीदा सवालों पर यहां चर्चा करना कहाँ मुनासिब होगा? ये पेचीदा सवाल तो विशेषज्ञों के लिए हैं। लेकिन विशेषज्ञ के विशेष रूप से चीजों को देखने के तरीके में एक खतरा है। हो सकता है कि चीजों को देखने में उचित दृष्टिकोण उसका न रहे और सामूहिक रूप में वह जिन्दगी का देखना भूल जाय। इस खतरे के खिलाफ इन्तजाम करना होगा। खास तौर से इस वक्त में जबकि जिन्दगी की नींव को ही चुनौती दी जा रही है, और वह झगड़े में पड़ी है। शिक्षा के पीछे आपका ध्येय और उद्देश्य क्या है? जरूर ही आप बढ़ती पीढ़ी को जिन्दगी के लिए तैयार करते हैं। आप जिन्दगी को किस सांचे में ढालना चाहते हैं; क्योंकि अगर उस सांचे की साफ तस्वीर आपके दिमाग़ में न होगी तो जो शिक्षा आप देंगे वह दिखावटी और दोषपूर्ण होगी। उद्देश्य भी उसमें कुछ न होगा और आपकी समस्यायें और कठिनाइयां बढ़ती ही जायंगी। आप जहाजी विद्या पर व्याख्यान देते रहेंगे जब कि जहाज डूबता जायगा।

बहुत जमाने से शिक्षा का आदर्श आदमी की तरक्की करना रहा है। जरूरी तौर पर यही आदर्श रहना चाहिए; क्योंकि बिना आदमी की तरक्की के सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती। लेकिन आज आदमी की वह चिंता भी जन साधारण को सामने रखकर करनी चाहिए, नहीं तो शिक्षित आदमी अशिक्षित जन-समूह में गर्क हो जायंगे। और किसी भी हालत में क्या यह मुनासिब या ठीक है कि थोड़े से लोगों को तरक्की करने और बढ़ने का मौका मिले जबकि बहुत से लोग उससे वंचित रहें?

लेकिन इंसान के दृष्टिकोण से भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल का हमें

मुकाबिला करना है। क्या एक अकेला इंसान दुर्लभ मौकों को छोड़कर दरअसल आगे बढ़ सकता है, अगर उसके चारों तरफ का वायु-मण्डल हर वक्त उसे नीचे खींचता हो? अगर वह वायुमंडल उसके लिए दूषित और नुकसानदेह है तो इन्सान का उससे लड़ना बेसूद होगा और लाजिमी तौर पर वह उससे कुचला जायगा।

यह वायु-मंडल क्या है? उसमें वे पुश्तैनी विचार, दुराग्रह और वहम शामिल हैं जो दिमाग पर बांध लगा देते हैं और इस बदलती दुनिया में तरक्की और तब्दीली को रोकते हैं। ये राजनीतिक स्थितियां हैं जो अकेले इन्सान और इन्सानों के मजमुए को ऊपर से लादी गई गुलामी में रखती हैं और इसी तरह उनकी आत्मा को भूखों मार डालती हैं और उनकी भावना को कुचल देती हैं। सबसे अधिक, आर्थिक स्थितियों का दबाव है। वे जनता को मौका देने से इंकार करती हैं। हमारे चारों तरफ दुराग्रह और वहम की जटिलता और राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का वायु-मंडल फैला है जिसके पंजे में हम फंसे हैं।

आपकी शिक्षा-प्रणाली सारे नामवर गुण सिखा सकती है; लेकिन जिन्दगी और ही कुछ सिखाती है। और जिन्दगी की आवाज कहीं ऊंची और तेज है। सहकारी प्रयत्न के लाभ आप बता सकते हैं; लेकिन हमारे आर्थिक ढांचे का आधार गला काटने वाली प्रतिस्पर्धा पर है और एक आदमी दूसरे को मारकर ऊपर उठना चाहता है। जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ने में और कुचल डालने में सफल होता है, उसी को चमकदार इनाम मिलता है। क्या इसमें कोई अचरज है कि हमारे युवक उस चमकीले इनाम की ओर खिंचें, और दावा करें कि लाभ के इच्छुक इस समाज में उस इनाम का पाना सबसे अधिक वांछनीय गुण है।

इस देश में हम तो अहिंसा की प्रतिज्ञा से बंधे हैं। फिर भी हिंसा न सिर्फ लड़ते-झगड़ते राष्ट्रों के प्रत्यक्ष रूप में ही हमें घेरे हुए है, बल्कि उस सामाजिक ढांचे के रूप में भी वह हमें घेरे हुए है, जिसमें कि हम रहते हैं। इस हिंसा भरे वातावरण से सच्ची शान्ति या अहिंसा उस समय

तक कभी भी हासिल नहीं हो सकती; जबतक कि हम उस वायु-मण्डल को ही न बदल दें।

उन आदर्शों के बावजूद भी जिन्हें कि हम स्वीकार कर सकते हैं; हमारी शिक्षा-प्रणाली इसी वायु-मण्डल की ही उपज और अंग है। इसी से वह पोषण पाता है और जान-बूझ कर या अनजाने इसी का वह समर्थन करती है। लेकिन यह बात आज संसार में स्पष्ट है कि यही वायु-मण्डल हमारी बहुत-सी मुसीबतों का कारण है और उसे जैसे-का-तैसा छोड़ देना सीधा बरबादी की तरफ जाना है।

असल में उस बरबादी को रोकने के लिए पहले ही से काफी देर हो गई है और यूरोप में जो लड़ाई चल रही है, वह शायद वर्तमान सभ्यता की नींव ही ढहा दे। इस बरबादी से हम बच नहीं सकते। यदि इससे बच भी गये तो हमारी निजी समस्यायें हैं जो हमें उस समय तक मिटा देने की धमकी देती हैं जबतक कि हम ठीक निगाह से चीजें न देखें और काम न करें। ताजी घटनाओं पर गौर करने से पता चलता है कि इस देश में बुराई, फूट और ओछा पक्षपात कितना अधिक है। हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार प्रबल राजनीतिक और आर्थिक हित तब्दीली के खिलाफ अपनी नाराजी दिखाते हैं और लड़ते हैं।

कुछ और बड़ी समस्यायें हैं जो इस परिषद् के सामने नहीं आवेंगी। वे हमारी शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। जबतक इन समस्याओं का उचित हल जल्दी ही न निकलेगा तबतक शिक्षा-संबंधी हमारे प्रयत्न सब यों ही जायंगे। लेकिन तात्कालिक समस्याओं के अलावा कोई भी शिक्षा से दिलचस्पी रखने वाला इस महत्वपूर्ण प्रश्न को दरगुजर नहीं कर सकता कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में शिक्षा का ध्येय क्या हो। सच्ची शिक्षा का दृष्टि-बिन्दु निश्चित रूप से सामाजिक हो और वह हमारे युवकों को उस प्रकार के समाज का शिक्षण दे जिसमें कि हम रहना चाहते हैं। उस समाज का निर्माण करने के लिए राजनीतिज्ञ राजनीतिक और आर्थिक तब्दीलियों के लिए कोशिश कर सकते हैं; लेकिन उस समाज की

असली बुनियाद तो हमारे स्कूलों और कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा में रहनी चाहिए। तभी लोगों के मन में सच्चा परिवर्तन होगा; हालांकि वायु-मण्डल के बाहरी परिवर्तनों से भी उसे बहुत ज्यादा मदद मिल सकेगी और मिलेगी। ये दोनों प्रक्रियायें साथ-साथ चलती हैं और एक-दूसरे के लिए वे सहायक होनी चाहिए।

हमारा आज का सामाजिक ढांचा ढह रहा है। उसमें विरोधी बातें भरी हैं और वह बराबर लड़ाई और संघर्ष की ओर हमें लिये जा रहा है। लाभ के इच्छुक और प्रतिस्पर्धा में फंसे इस समाज का अंत होना चाहिए और उसकी जगह एक ऐसी सहकारी व्यवस्था आनी चाहिए जिसमें हम अकेले इन्सान के फायदे की बात न सोच कर सब की भलाई की बात सोचें, जहां इन्सान इन्सान की मदद करे और राष्ट्र राष्ट्र मिल कर इन्सानों की तरक्की के काम करें; जहां पर मानवीय गुणों का मूल्य हो और जमात या समूह या राष्ट्र का एक के द्वारा दूसरे का शोषण न हो।

यदि हमारे आगे आने वाले समाज का यही मान्य आदर्श है तो हमारी शिक्षा भी उसी आदर्श को सामने रखकर ढाली जानी चाहिए और कोई भी बात ऐसी नहीं आनी चाहिए जो सामाजिक व्यवस्था के इस ध्येय के विरुद्ध हो। उस शिक्षा के लिए हमेशा अपने करोड़ों लोगों की परिभाषा में सोचना होगा और किसी दल या जमात के लिए उसके हितों की आहुति नहीं देनी होगी। अध्यापक तब वह नहीं होगा जो कि अपने उस देश की लकीर का फकीर है जिससे उसे जीविका मिलती है; बल्कि वह आदमी होगा जो अपने पेशे को उस पवित्र ध्येय के एक मिशनरी की उत्साहपूर्ण भावना से पसन्द करेगा जो कि उसकी रग-रग में भरा है।

हाल ही में हिन्दुस्तान में शिक्षा की प्रगति की ओर बहुत ध्यान दिया गया है और लोगों के मन में इसके लिए उत्साह और उत्सुकता है। आज की इस दुनिया में जिसमें उम्मीद बहुत कम है, यह बड़ी आशा की चीज है। इसमें शुबहा नहीं कि आप बुनियादी शिक्षा की नई योजना पर भी विचार करेंगे। जितना मैंने इस बुनियादी शिक्षा पर सोचा है उतना ही मैं उसकी

तरफ खिंचा हूँ। इसमें शक नहीं कि आगे तजुरबे होंगे, उनसे परिवर्तन होंगे। लेकिन मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इस योजना के द्वारा हमने एक ऐसा मार्ग पा लिया है; जिससे यदि शिक्षा जीवन से सामंजस्य रखती है और जीवन के लिए आदमी को तैयार करती है, तो उससे ठीक लाइनों पर जनता शिक्षित हो सकती है। खास तौर से यह शिक्षा हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश के लिए बहुत उपयुक्त है।

मैं हिन्दुस्तान भर में घूमा हूँ। लाखों अभागे और दुखी लोगों को मैंने देखा है; आंखें जिनकी बैठ गई हैं और निगाह में बेबसी भरी है। हिन्दुस्तान के इस दुर्भाग्य से मुझे चोट लगी है। फिर भी मैंने हमेशा महसूस किया है कि हमारे लोगों में आश्चर्यजनक शक्ति है और विश्वास किया है कि अपनी इस दुखी हालत से वे ऊपर उठेंगे। उनके खुश चेहरे फिर चमकेंगे और उनकी आँखों में फिर आशा भरेगी। हरेक इन्सान का यह जन्म-जात अधिकार है। उन्हें भूख लगती है, पर खाने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है। काम वे चाहते हैं, पर काम उनको नहीं मिलता। जाड़े से उनकी देह थर-थर कांपती है, उनके घर मिट्टी के झोंपड़े हैं। वे बराबर गिरते रहते हैं और कभी कोई आशा-जनक अवसर उनके रास्ते भी नहीं फटकता।

यह सब दुर्भाग्य है और इसका इलाज होना चाहिए। लेकिन सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि जब लोगों में कोई आशा नहीं है, न साहस से कार्य करने की भावना और अभिमान बचा है तो उनकी स्फूर्ति ही खत्म हो जायगी। हिन्दुस्तान को नया जन्म देने से पहले यही चीज है जिसका हमें खात्मा करना है।

बुद्धिवादी ऊंचे दिमाग के आदमियों को एक दूर दुखी दुनिया के मामलों पर शांत भाव से विचार करना अच्छा लगता है। असलियतों से दूर, वे सीमित घेरों में अपने को सुरक्षित और संतुष्ट महसूस करते हैं। लेकिन असलियत तो अब हमारे सामने है और दुखी दुनिया हमसे दूर नहीं है; बल्कि वह हमें घेर लेने और दुखी करने की धमकी देती है। जो

इस कटु वास्तविकता से डर गये हैं और उससे बचने के लिए पनाह ढूँढते हैं, वे किस्मत के खिलाफ बेबसी से और बुरी तरह से लड़ते हैं और छिपी शक्तियों से नियंत्रित वे कठपुतली की तरह काम करते हैं। हममें किसी को भी इस कमजोर और बेकार तरीके से ऐसे वक्त में काम नहीं करना चाहिए जबकि हरेक चीज के लिए, जो कि जीवन के लिए योग्य है, स्पष्ट विचार और बहादुरी के कामों की जरूरत है। दुनिया खुशगवार नहीं है, इस बात को हम महसूस करें और तब आदमियों की तरह उसे बदलने की कोशिश करें और अपने सबके रहने के योग्य उसे अच्छी और ठीक बनावें।

: ४० :

अखबारों की आजादी[1]

मैं अखबारों की आजादी का बहुत ही ज्यादा कायल हूँ। मेरे खयाल से अखबारों को अपनी राय जाहिर करने और नीति की आलोचना करने की पूरी आजादी मिलनी चाहिए। हाँ, इसका मतलब यह नहीं होना चाहिए कि अखबार या इन्सान द्वेष भरे हमले किसी दूसरे पर करे या गंदी तरह की अखबार-नवीसी में पड़े, जैसे कि हमारे आजकल के कुछ साम्प्रदायिक पत्रों की विशेषता है। लेकिन मेरा पक्का यकीन है कि सार्वजनिक जीवन का निर्माण आजाद अखबारों की नींव पर होना चाहिए।

मशहूर राष्ट्रवादी अखबार, जिन्होंने अपनी स्थिति बना ली है, वे बड़ी हद तक खुद अपना खयाल रख सकते हैं। उन पर कोई मुसीबत आती है तो जनता का ध्यान उनकी तरफ जाता है। मदद भी उन्हें मिलती है। पर जो छोटे और ऐसे अखबार हैं जिनका नाम थोड़ा ही है, उनमें सरकार अक्सर दखल करती है, क्योंकि उनकी प्रसिद्धि उतनी नहीं है। फिर भी हमारे छोटे-छोटे और कमजोर-से-कमजोर अखबारों को सरकारी दबाव का शिकार होने देना खतरे की बात है। क्योंकि ज्यों-ज्यों दबाव पड़ता है त्यों-त्यों दबाव डालने की आदत बढ़ती जाती है और उससे धीरे-धीरे जनता का मन सरकार द्वारा अपने अधिकारों का

---

१. बंगाल की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की कार्य-समिति के 'युगान्तर' पत्र के बहिष्कार का प्रस्ताव पास करने तथा बंगाल सरकार द्वारा कई पत्रों से जमानत मांगने और सम्पादन में दखल देने पर 'अमृतबाजार पत्रिका' के सम्पादक श्री तुषारकान्ति घोष को लिखा गया एक पत्र।

दुरुपयोग किये जाने का आदी हो जाता है। इसलिए पत्रकारों की एसोसियेशन तथा सब अखबारों के लिए यह जरूरी है कि कम मशहूर अखबारों तक के मामलों को यों ही न जाने दें। अगर वे प्रेस की आजादी बनाये रखने के ख्वाहिशमन्द हैं तो उन्हें सजग रहकर इस आजादी की रक्षा करनी चाहिए और हर प्रकार के अतिक्रमण को, फिर वह कहीं से भी हो, रोकना चाहिए। यह राजनीतिक विचारों या मतों का ही मामला नहीं है। जिस घड़ी हम उस अखबार पर हमला होने में अपनी रजामन्दी दे देते हैं, जिससे हमारा मत-भेद है, तभी उसूलन हम अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं और जब हमारे ऊपर हमला होता है तो उसका मुकाबिला करने की शक्ति हममें बाकी नहीं रहती।

प्रेस की आजादी इसमें नहीं है कि जो चीज हम चाहें, वही छप जाय। एक अत्याचारी भी इस तरह की आजादी को मंजूर करता है। प्रेस की आजादी इसमें है कि हम उन चीजों को भी छपने दें, जिन्हें हम पसंद नहीं करते; हमारी अपनी भी जो आलोचनायें हुई हैं उन्हें भी हम बर्दाश्त कर लें और जनता को अपने उन विचारों को भी जाहिर कर लेने दें जो हमारे पक्ष के लिए नुकसानदेह ही क्यों न हों। क्योंकि बड़े लाभ या अंतिम ध्येय की कीमत पर क्षणिक लाभ पाने की कोशिश करना हमेशा एक खतरे की बात है। अगर गलत माप कायम करते हैं और गलत तरीके अख्तियार करते हैं, चाहे इस यकीन से भी कि हम एक ठीक पक्ष को समर्थन दे रहे हैं, तो भी उन मापों और तरीकों का प्रभाव उस ठीक पक्ष पर भी पड़ेगा और उसमें दुराग्रह भर जायेगा। जो ध्येय हमारे सामने है, वह कुछ अंश में उन्हीं मापों और साधनों द्वारा नियंत्रित होगा और शायद उसका अन्तिम परिणाम भी सर्वथा भिन्न हो, जिसकी कि हमने कल्पना भी न की थी।

अगर हमारा ध्येय जनतंत्र और आजादी है तो उसे हमें हमेशा अपने काम और कार्रवाइयों में सामने रखना चाहिए। अगर हमारा काम जनतंत्र और आजादी-विरोधी तरीके पर है तो निश्चित ही उसको फल

जनतंत्र और आजादी नहीं होगा; बल्कि और ही कुछ होगा।

यह सच है कि ऊँचे-ऊँचे ऐसे सिद्धान्त बनाना आसान है जो कि तर्क-संगत हैं और बड़े अच्छे लगते हैं। पर उन्हें व्यवहार में लाना ज्यादा मुश्किल है। क्योंकि जिन्दगी अधिक तर्क-संगत नहीं है और आदमी के व्यवहार का माप भी उतना ऊँचा नहीं होता जितना कि हम चाहते हैं। हम एक ऐसे जंगल में रहते हैं जहाँ लुटेरे लोग और राष्ट्र अक्सर मनमाने ढंग से इधर-उधर चक्कर लगाते हैं और समाज को नुकसान पहुंचाने की कोशिश करते हैं। युद्ध या राष्ट्र की आजादी के लिए हलचल या वर्गों के बीच कशमकश और ऐसे संकट पैदा होते रहते हैं जिनसे घटनाओं की स्वाभाविक गति-विधि बदल जाती है। उस वक्त अपने बनाये ऊँचे सिद्धांतों पर, जो कि आदमियों के व्यवहार का एक माप नियत करते हैं, पूरी तरह से कायम रहना मुश्किल हो जाता है। ऐसे संकट के समय में आदमी या जमात की साधारण स्वतन्त्रता पर कुछ हदतक फिर से विचार करना जरूरी हो जाता है। ऐसा जरूरी होते हुए भी, हमारा फिर से विचार करना एक खतरे की बात है और उसके नतीजे भी बुरे निकल सकते हैं, अगर हम पूरी तरह से सजग रहकर न चलें। ऐसा न करेंगे तो हम उसी बुराई के शिकार हो जायंगे जिसके खिलाफ कि हम लड़ते हैं।

जब हम जनतन्त्र, आजादी और नागरिक अधिकार की बात करते हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि इनमें जिम्मेदारी और अनुशासन भी मौजूद रहता है। बिना व्यक्ति और जमात के अनुशासन पालन किये और जिम्मेदारी महसूस किये सच्ची आजादी नहीं मिल सकती। गुलाम की हालत और स्वतन्त्रता से आजादी की स्थिति में आ जाने पर मनमाने तौर पर काम करने की प्रवृत्ति होना शायद लाजिमी है। यह अफसोस की बात है। लेकिन उसे समझना मुश्किल नहीं है; क्योंकि लम्बे अर्से से चले आनेवाले दबाव की यह प्रतिक्रिया है। कुछ हद तक इसको बर्दाश्त किया जाना चाहिये; क्योंकि उसे दबाने का मतलब तो उस भावना पर जोर देना है जिससे कि वह पैदा हुई है। फिर भी, हम सच्ची अपनी

आजादी को नीचे गिराकर मनमानेपन, गैर जिम्मेदारी और अनुशासनहीनता में परिणत होने से रोकने के लिए तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तान सहनशीलता का शानदार नमूना है, चीन को छोड़कर दुनिया के किसी भी मुल्क में ऐसा नमूना नहीं है। उस वक्त जबकि यूरोप और दूसरे मूल्क खून में नहा रहे थे, धर्म की लड़ाइयों में फँसे थे और एक दूसरे के मत या विचारों को दबाने में लगे थे, हिन्दुस्तान और चीन दूसरे मूल्कों के धर्मों के लिए अपने द्वार खोल रहे थे। संस्कृति के सुनहले युग का उन्हें विश्वास था। सहिष्णुता और संस्कृति की महान् पृष्ठभूमि हमारे लिए एक कीमती विरासत है।

आज हममें उन दूसरे मामलों के बारे में उत्साह है जिनका हमसे महत्वपूर्ण संबंध है। यह ठीक ही है कि इन मसलों के बारे में हम गहराई के साथ सोचें, क्योंकि उन्हीं के परिणामों पर हमारे मुल्क और दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। यह ठीक है कि हम उस पक्ष को आगे बढ़ने में अपनी पूरी ताकत लगा दें, जो हमें प्रिय है। लेकिन यह ठीक नहीं है कि हम उन सिद्धान्तों को ही छोड़ दें या ढीला कर दें जो कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान की सभ्यता का गौरव और कुछ भिन्न अर्थ में, जनतंत्रीय आजादी की नींव रहे हैं। सब से अधिक हमें आजादी और नागरिक अधिकारों के साथ अनुशासन और जिम्मेदारी को जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए।

: ४१ :

हमारी मौजूदा समस्यायें[1]

हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत और भविष्य की संभावित गति-विधि पर एक पत्र में नोट के रूप में कुछ लिखना आसान काम नहीं है। लेकिन जैसा कि आप जानते ही हैं इस विषय पर मैं बराबर लिखता और बोलता रहा हूँ। मैं श्री एल्महर्स्ट से इस विषय में सहमत हूँ कि जहां तक राजाओं का सम्बन्ध है अगर ब्रिटिश-सरकार उनसे अपनी रियासतों में जनतंत्र सरकार कायम करने के लिए कहे तो वैसा करने के अलावा उनके सामने और कोई रास्ता ही नहीं रहेगा। हालत यह है कि आज राजा लोग कुछ को छोड़कर, वह भी बड़ी हद तक नहीं, ऐसे हैं कि बिना ब्रिटिश सरकार के सक्रिय सहयोग के कोई काम नहीं कर सकते। इन बरसों में सरकार की राजाओं के बारे में शोचनीय नीति रही है। सरकार ने रियासतों के हर तरह के प्रतिगामी कामों और दमन का समर्थन किया है। इससे साफ है कि रियासतों के सम्बन्ध में भी हमारी लड़ाई अन्ततः ब्रिटिश सरकार से है।

बहरहाल, इस वक्त हमारे सामने एक बड़ा मसला है। आप जानते हैं कि कांग्रेस ने ब्रिटिश-सरकार से लड़ाई के उद्देश्यों को ही साफ तौर से बताने के लिए नहीं कहा है, बल्कि हिन्दुस्तान की आजादी और राष्ट्रीय पंचायत के जरिये अपना विधान बनाने का हिन्दुस्तान का अधिकार स्वीकार करने के लिए भी कहा है। जबतक यह बात साफ तौर से तय नहीं हो जाती तबतक और चीजों का कोई महत्त्व नहीं है और न उनका सवाल ही उठता है। हिन्दुस्तान की आजादी का मतलब जरूरी तौर से ब्रिटेन से एकदम सम्बन्ध तोड़ लेना नहीं है। लेकिन इसका यह मतलब जरूर है कि हिन्दुस्तान की पृथक् सत्ता और अपने भाग्य के निर्णय के

---

१. हिन्दुस्तान की वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर पी. ई. पी. (लंदन) के अध्यक्ष मि० एल० के० एल्महर्स्ट के लिए शान्तिनिकेतन के डा० सुधीर सेन को भेजा गया पत्र।

अधिकार को पूरी तरह से स्वीकार किया जाय। ब्रिटेन के साथ भविष्य में हमारे क्या सम्बन्ध रहेंगे, यह तय करना राष्ट्रीय पंचायत का काम होगा। अगर ब्रिटेन अब साम्राज्यवादी नहीं रहा है तो कोई सबब नहीं कि हम उसके साथ अधिक-से अधिक सहयोग न करें। लेकिन शुरू से ही हम पर कोई सम्बन्ध लादने का मतलब है कि निर्णय हमारे हाथ में नहीं है और इसलिए वह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहांतक अल्प-संख्यकों का सवाल है हम उन्हें दोनों तरह से ज्यादा-से ज्यादा गारंटी देने के लिए तैयार हैं। विधान के आपस में मिलकर तय किये हुए ऐसे मौलिक कानूनों के रूप में ही नहीं जिनसे कि अल्प-संख्यकों को संरक्षण मिले और धर्म, संस्कृति एवं भाषा आदि के नागरिक अधिकार भी प्राप्त हों, बल्कि खुद विधान को बनाने में भी। हमने तो यहां तक कह दिया है कि अगर कोई अल्प-संख्यक समाज जुदा निर्वाचन-पद्धति के जरिये अपने प्रतिनिधि चुनना चाहता है तो हम उसे मान लेंगे। इसके अलावा सिर्फ अल्प-संख्यकों के अधिकारों से ही सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में निर्णय उनकी रजामन्दी से होगा, सिर्फ बहुमत के वोटों से नहीं। अगर किसी बारे में समझौता न हो सका तो मामला राष्ट्र-संघ, या हेग-कोर्ट या वैसी ही किसी संस्था की निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता पर छोड़ दिया जायगा। इस प्रकार अल्प-संख्यकों के अधिकारों को हर तरह का संभावित संरक्षण दे दिया गया है। यह याद रखना चाहिए कि जहांतक मुसलमानों का सम्बन्ध है, उन्हें अल्प-संख्यक कहना इस शब्द का गलत इस्तेमाल करना है। सचाई तो यह है कि हिन्दुस्तान के पाँच सूबों में उनका बहुमत है। और उन सूबों में उनके संरक्षण का सवाल ही नहीं है जिनमें उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा प्रान्तीय स्वायत्त-शासन प्राप्त होगा। हिन्दुस्तान की आबादी इस तरह बटी हुई है कि संतुलन करनेवाली बहुत-सी बातें हैं और यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि दो बड़ी धर्मिक ज़मातें—हिन्दू और मुसलमान—एक दूसरे को कुचल सकते हैं या एक दूसरे पर अत्याचार कर सकते हैं। छोटे अल्प-संख्यकों

की स्थिति जुदा है। लेकिन उनको भी इन संतुलन रखनेवाली बातों से फायदा पहुँचता है। और हर हालत में उनकी रक्षा की जानी चाहिए।

ये बातें इस धारणा पर कही गई हैं कि यहां एक दूसरे के प्रति दुर्भाव है और धार्मिक वर्ग की बुनियाद पर काम होगा। लेकिन यह मुमकिन नहीं है कि जब हिन्दुस्तान राजनीतिक और आर्थिक समस्या हल करने में लगे तब इस रीति से काम हो। तब विभाग आर्थिक बुनियाद पर होगा, धार्मिक आधार पर नहीं।

अगर सारे अल्प-संख्यकों के सवाल को फैलाकर देखा जाय तो मालूम होगा कि यह राजनीतिक प्रतिगामियों और सामन्तवादी तत्वों के जरये हिन्दुस्तान की आजादी की प्रगति को रोकने की कोशिश है। हमेशा की तरह ब्रिटिश सरकार ने न सिर्फ इसका पूरा फायदा ही उठाया है, बल्कि इस तरह के हरेक फूट फैलानेवाले और प्रतिगामी तत्व को प्रोत्साहन दिया है, और अब भी दे रही है। हिन्दुस्तान की समस्या पर विचार करने का आधार सिर्फ वही है जो कांग्रेस ने बताया है यानी हिन्दुस्तान की आजादी और राष्ट्रीय पंचायत की मांग को मंजूर कर लिया जाय। इस दरमियान जनता की रजामन्दी से कानून में कोई बड़ी तब्दीली किये बगैर ज्यादा-से-ज्यादा उदार साधन से भारत सरकार को चलाने के लिए फौरन कार्रवाई होनी चाहिए; लेकिन यह बीच का अरसा बहुत लम्बा होना चाहिए। और तब्दीली करने के लिए जितना भी जल्दी-से जल्दी मुमकिन हो कदम उठाना चाहिए।

हमने सलाह दी है कि राष्ट्रीय पंचायत का चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर होना चाहिए। यह बात हमारे लिए बहुत महत्व रखती है क्योंकि उस तरीके से हम असली आर्थिक कार्यक्रम सामने ला सकते हैं और साम्प्रदायिक समस्याओं को, जो कि जरूरी तौर पर मध्यमवर्ग की हैं, सुलझा सकते हैं। बालिग मताधिकार पर आपत्ति की गई है; क्योंकि वह व्यापक अधिक होगा। यह आपत्ति अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा दूर की जा सकती है। उस हालत में प्राइमरी मतदाता निर्वाचक मंडल का चुनाव

करेंगे और फिर राष्ट्रीय पंचायत के सदस्यों को चुनेंगे।

इस मसले को गड़बड़ी में न डालने के लिए यह जरूरी है कि रियासतों का सवाल इस अवस्था में हाथ में न लिया जाय। यह नियम बना दिया जाय कि राष्ट्रीय पंचायत में कोई भी रियासत हिस्सा ले सकती है बशर्ते कि वह उस जनतन्त्र के आधार पर हिस्सा ले जिसपर कि बाकी हिन्दुस्तान ने लिया है। इस मामले में दबाव डालने की जरूरत नहीं है। घटनाओं का दबाव ही काफी होगा। रियासतों की जनता का भी दबाव होगा। बहुत मुमकिन है कि अधिकांश रियासतें ब्रिटिश हिन्दुस्तान के साथ हो जायं और राष्ट्रीय पंचायत में शरीक हों। यह भी मुमकिन है कि एक दर्जन या उतनी ही बड़ी रियासतें कुछ अर्से तक अलग रहें। उनकी समस्याओं पर बाद में विचार किया जा सकता है। अगर हम बहुत आगे बढ़ें तो इन बड़ी रियासतों के साथ समझौता करने में कोई बड़ी कठिनाई होने की संभावन नहीं है। बेशक यह सब ब्रिटिश सरकार के इस नीति में पूरी तरह से सहयोग देने पर निर्भर करता है। अगर कोई संघर्ष होता है तो यह कहना मुश्किल है कि नतीजा क्या होगा। यह तो है कि लड़ाई बड़े पैमाने पर होगी और कुछ अर्से तक हिन्दुस्तान में फूट और अव्यवस्था फैल जायगी।

एक बात और है जो आपके सामने रखना चाहता हूँ। लड़ाई के बढ़ने से हमने यह बात ज्यादा-से-ज्यादा महसूस की है कि वह साम्राज्यवादी देशों के लिए लड़ी जा रही है। साम्राज्यवादों के बीच संघर्ष है और जबतक यह बात साफ नहीं हो जाती कि लड़ाई किस बेहतर बात के लिए लड़ी जा रही है तबतक हिन्दुस्तान के लिए वह सम्भव नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बचाने के लिए उसमें शरीक हो।

शायद यह खत भी अगर आप इसे एल्महर्स्ट को भेज दें, मेरे विचारों को कुछ जाहिर करेगा। फेडरल-केन्द्र के संक्रमण-काल पर विचार नहीं किया है। बेशक यह महत्वपूर्ण बात है कि संक्रमण-काल में भी यह जनता के पथ-प्रदर्शन में चलेगा।

1053

लेखक की अन्य पुस्तकें

१. मेरी कहानी
२. हिन्दुस्तान की कहानी
३. लड़खड़ाती दुनिया
४. राष्ट्रपिता
५. राजनीति से दूर
६. हमारी यात्रा की मंजिलें
(छप रही हैं)
७. पिता के पत्र पुत्री के नाम
८. विश्व इतिहास की झलक